रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी – फरवरी – मार्च

★ १९७६ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

वार्षिक ५)

एक प्रति १।।)

आजीवन सदस्यता शुल्क– १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२-००१ (म.प्र.)

फोन : ४५८९

अनुक्रमणिका

—।०।—

कवर चित्र परिचय – **स्वामी विवेकानन्द**

(शिलांग में, सन् १९०१ ई०)

मुद्रण स्थल : **नरकेसरी प्रेस**, रायपुर (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १४] जनवरी-फरवरी-मार्च ★ १९७६ ★ [अंक १

आवागमन से छुटकारा कब?

देहात्मधीरेव नृणामसिद्धयां
जन्मादिदुःखप्रभवस्य बीजम् ।
यतस्ततस्त्वं जहि तां प्रयत्नात्
त्यक्ते तु चित्ते न पुनर्भवाशा ।।

—देह के प्रति आत्म-बुद्धि ही अविवेकशील मनुष्यों के जन्मादि दुःखों की उत्पत्ति का कारण है, अतः उसे तू प्रयत्नपूर्वक छोड़ दे। जब यह देहात्म-बुद्धि छूट जायगी, तब फिर पुनर्जन्म की कोई आशंका न रहेगी।

—विवेकचूड़ामणि, १६४

स्वाँग का फल

किसी गाँव में एक मछुआ रहता था। उसके गाँव के पास कोई नदी नहीं थी, अतः वह पोखरों से मछलियाँ पकड़ता और बाजार में बेच आया करता। यही उसकी आजीविका थी। धीरे धीरे पोखरों में मछलियों की संख्या कम होती गयी और एक दिन ऐसा आया, जब इस मछुए को कोई मछली न मिली। उसके परिवार को खाने के भी लाले पड़ गये। वह विचार करने लगा कि क्या किया जाय, जिससे पेट में थोड़ा अन्न डालने की व्यवस्था तो हो।

रात में उसे भूख की मार सहन न हुई। वह उठ बैठा और उसने विचार किया कि चलो, आज किसी दूसरे के पोखर से मछली चुरा लाते हैं। भूख है भी बुरी बला। उसकी आँतें कुलबुलाने लगी थीं। उसने उठकर जाल कन्धे पर डाला और रात के अँधेरे में एक दूर गाँव के जमींदार के पोखर की ओर चल पड़ा। वहाँ पहुँच उसने मछली पकड़ने के लिए पानी में जाल फेंका। जोर से छपाक् की आवाज हुई, जिसे उस पोखर के मालिक ने सुन लिया। वह 'चोर चोर' कह चिल्ला उठा। आवाज सुन नौकर–चाकर दौड़ आये और हाथ में लालटेन और लाठी ले चोर की खोज में निकल पड़े। उन्होंने बगीचे को चारों ओर से घेर लिया, जिससे चोर बाहर न भाग पाये।

मछुए ने देखा, तो उसके होश उड़ गये। सोचा, यदि पकड़ा जाऊँगा, तो वे लोग मेरा भुरता बना देंगे। भागने का कोई उपाय भी नहीं था। वह अपने को छुपाता हुआ

पोखर से दूर जा ही रहा था कि ठोकर खाकर गिर पड़ा। उसका हाथ नीचे राख की ढेरी पर जा पड़ा। उसे एक युक्ति सूझी। उसने चट अपने सारे शरीर पर राख मल ली और लँगोटी लगा एक पेड़ के नीचे ध्यान की मुद्रा में बैठ गया। पोखर के मालिक अपने नौकरों के साथ पोखर के चारों ओर सारे बगीचे को छान आये, पर चोर का पता न चला। वे बस एक महात्मा को ही देख पाये, जो भस्म रमाये वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ बैठे थे। दूसरे दिन सुबह यह बात बिजली की तरह सारे गाँव में फैल गयी कि एक सिद्ध महात्मा जमींदार के बगीचे में ठहरे हुए हैं। लोग झुण्ड के झुण्ड उनके दर्शन करने के लिए आने लगे और फल-फूल एवं मिठाई की भेंट दे प्रणाम करने लगे। कई लोगों ने तो उन पर रुपये-पैसे भी चढ़ाये। मछुआ सोचने लगा, "कैसा आश्चर्य है! मैं कोई महात्मा तो हूँ नहीं, मैंने केवल स्वाँग भर किया है, फिर भी लोग मेरे प्रति इतनी श्रद्धा प्रकट कर रहे हैं। अगर कहीं मैं सच्चा साधु हो जाऊँ, तब तो अवश्य ही भगवान् को पा लूँगा! इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है।" ऐसा विचार कर मछुए ने वीतराग हो संसार का त्याग कर दिया और एक दिन सचमुच का महात्मा बन गया।

नकल भी कभी कभी असल को प्राप्त करने का कारण बन जाया करता है!

अग्नि-मंत्र

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

१४, ग्रेकोट गार्डन्स
वेस्टमिनिस्टर, लन्दन
१ नवम्बर १८९६

प्रिय मेरी,

'सोना और चाँदी मेरे पास किंचित् मात्र नहीं है, किन्तु जो मेरे पास है, वह मैं तुम्हें मुक्तहस्त दे रहा हूँ।'--और वह यह ज्ञान है कि स्वर्ण का स्वर्णत्व, रजत का रजतत्व, पुरुष का पुरुषत्व, स्त्री का स्त्रीत्व और सब वस्तुओं का सत्यस्वरूप परमात्मा ही है, और इस परमात्मा को प्राप्त करने के लिए बाह्य जगत् में हम अनादिकाल से प्रयत्न करते आ रहे हं, और इस प्रयत्न में हम अपनी कल्पना की 'विचित्र' वस्तुओं--पुरुष, स्त्री, बालक, शरीर, मन, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारे, संसार, प्रेम, द्वेष, धन, सम्पत्ति इत्यादि को, और भूत, राक्षस, देवदूत, देवता, ईश्वर इत्यादि को भी--त्यागते रहे हैं।

सच तो यह है कि प्रभु हममें ही है, हम स्वयं प्रभु हैं--जो नित्य द्रष्टा, सच्चा 'अहम्' तथा अतीन्द्रिय है। उसे द्वैत भाव से देखने की प्रवृत्ति तो केवल समय और बुद्धि को नष्ट करना ही है। जब जीव को यह ज्ञान हो जाता है, तब वह विषयों का आश्रय लेना छोड़ देता है और आत्मा की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त होता है। यही

क्रम-विकास है, अर्थात् अन्तर्दृष्टि का अधिकाधिक विकास एवं बहिर्दृष्टि का अधिकाधिक लोप। सर्वाधिक विकसित रूप मानव है, क्योंकि वह मननशील है--वह ऐसा प्राणी है, जो विचार करता है, ऐसा प्राणी नहीं जो केवल इन्द्रियों से समबद्ध है। धर्मशास्त्र में इसे 'त्याग' कहते हैं। समाज का निर्माण, विवाह की व्यवस्था, सन्तान-प्रेम, हमारे शुभ कर्म, शुद्धाचरण और नैतिकता, ये सब त्याग के विभिन्न रूप हैं। सब समाजों में हम लोगों का जीवन इच्छा, पिपासा या कामना के दमन में ही निहित है। इच्छा अथवा मिथ्या आत्मा के इस परित्याग--स्वार्थ से निकलने की अभिलाषा, नित्य द्रष्टा को द्वैत भाव से देखने के प्रयत्न के विरुद्ध संघर्ष के भिन्न भिन्न रूप तथा उनकी अवस्थाएँ ही संसार के भिन्न भिन्न समाज एव सामाजिक नियम हैं। मिथ्या आत्मा के समर्पण तथा स्वार्थनिग्रह का सबसे सरल उपाय है प्रेम तथा इसका विपरीत उपाय है द्वेष।

स्वर्ग-नरक तथा आकाश के परे राज करनेवाले शासकों से सम्बद्ध अनेक कक्षाओं अथवा अन्धविश्वासों के द्वारा मनुष्य को भुलावे में डालकर उसे आत्मसमर्पण के लक्ष्य की ओर अग्रसर किया जाता है। इन सब अन्धविश्वासों से दूर रहकर तत्त्वज्ञानी वासना के त्याग द्वारा जान-बूझकर इस लक्ष्य की ओर आगे बढ़ता है।

बाह्य स्वर्ग या राम-राज्य का अस्तित्व केवल कल्पना में ही है, परन्तु मनुष्य के भीतर इनका अस्तित्व पहले से ही है। कस्तूरी की सुगन्ध के कारण की व्यर्थ खोज

करने के बाद, कस्तूरी-मृग अन्त में उसे अपने में ही पाता है।

बाह्य समाज सर्वदा शुभ और अशुभ का सम्मिश्रण होगा——बाह्य जीवन की अनुगामी उसकी छाया अर्थात् मृत्यु, सर्वदा उसके साथ रहेगी, और जीवन जितना लम्बा होगा, उसकी छाया भी उतनी ही लम्बी होगी। केवल जब सूर्य हमारे सिर पर होता है, तब कोई छाया नहीं होती। जब ईश्वर, शुभ और अन्य सब कुछ हममें ही हैं, तो अशुभ कहाँ ? परन्तु बाह्य जीवन में प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है और हर शुभ के साथ अशुभ उसकी छाया की तरह जाता है। उन्नति में अधोगति का समान अंश रहता है, कारण यह है कि अशुभ और शुभ एक ही पदार्थ हैं, दो नहीं, भेद अभिव्यक्ति में है——मात्रा में है, न कि जाति में।

हमारा जीवन स्वयं दूसरों की मृत्यु पर अवलम्बित है, चाहे वनस्पतियाँ हों, चाहे पशु, चाहे कीटाणु। एक बड़ी भारी भूल जो हम लोग बहुधा करते हैं, वह यह कि शुभ को हम सदा बढ़नेवाली वस्तु समझते हैं और अशुभ को एक निश्चित राशि मानते हैं। इससे हम तर्क द्वारा सिद्ध करते हैं कि यदि अशुभ दिन दिन घट रहा है, तो एक समय ऐसा आयेगा, जब शुभ ही अकेला शेष रह जायगा। मिथ्या पूर्वपक्ष को स्वीकार कर लेने से हमारा तर्क अशुद्ध हो जाता है। यदि शुभ की मात्रा बढ़ रही है, तो अशुभ की भी बढ़ती है। मेरी जाति की जनता की अपेक्षा मेरी आकांक्षाएँ बहुत बढ़ गयी हैं।

मेरा सुख उनसे अत्यधिक है, परन्तु मेरा दुःख भी उनसे लाखों गुना तीव्र है। जिस स्वभाव के कारण तुम्हें शुभ के स्पर्श मात्र का आभास होता है, उसी से तुम्हें अशुभ के स्पर्श मात्र का भी आभास होगा। जिन स्नायुओं द्वारा सुख का अनुभव होता है, उन्हीं के द्वारा दुःख का भी; और एक ही मन दोनों का अनुभव करता है। संसार की उन्नति का अर्थ है सुख और दुःख--दोनों की अधिक मात्रा। जीवन और मृत्यु, शुभ और अशुभ, ज्ञान और अज्ञान का सम्मिश्रण--यही 'माया' कहलाती है--यही है विश्व का नियम। तुम अनन्त काल तक इस जाल में सुख और दुःख की खोज करो--तुम्हें बहुत सुख और बहुत दुःख दोनों मिलेंगे। यह कहना कि संसार में केवल शुभ ही हो, अशुभ नहीं, बालकों का प्रलाप मात्र है। दो मार्ग हमारे सामने हैं--एक तो सब प्रकार की आशा को छोड़कर संसार जैसा है वैसा स्वीकार करके, दुःख की वेदना को सहन करें, इस आशा में कि कभी कभी सुख का अल्पांश मिल जाया करेगा। दूसरा मार्ग यह है कि हम सुख को दुःख का ही एक दूसरा रूप समझकर सुख की खोज को त्याग दें तथा सत्य की खोज करें--और जो सत्य की खोज करने का साहस रखते हैं, वे उसे नित्य अपने में ही विद्यमान पाते हैं। फिर हमें यह भी पता लग जाता है कि वही सत्य किस प्रकार हमारे व्यावहारिक जीवन के भ्रम और ज्ञान दोनों रूपों में प्रकट हो रहा है--हमें यह भी पता लग जाता है

कि वही सत्य 'आनन्द' है, जो शुभ और अशुभ दोनों रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। साथ ही हमें यह भी पता लग जाता है कि वही 'सत्' जीवन और मृत्यु दोनों रूपों में प्रकट हो रहा है।

इस प्रकार हम यह अनुभव करते हैं कि ये सब बातें उसी एक अस्तित्व-सत्-चित्-आनन्द, सब चीजों के अस्तित्व स्वरूप, मेरे यथार्थ स्वरूप की भिन्न भिन्न प्रतिच्छायाएँ मात्र हैं। तब और केवल तभी बिना बुराई के भलाई करना सम्भव होता है, क्योंकि ऐसी आत्मा ने उस पदार्थ को, जिससे कि शुभ और अशुभ दोनों का निर्माण होता है, जान लिया है और अपने वश में कर लिया है, और वह अपनी इच्छानुसार एक या दूसरे का विकास कर सकता है। हम यह भी जानते हैं कि वह केवल शुभ का ही विकास करता है। यही 'जीवन्मुक्ति' है जो वेदान्त का और सब तत्त्व-ज्ञानों का अन्तिम लक्ष्य है।

मानवी समाज पर चारों वर्ण—पुरोहित, सैनिक, व्यापारी और मजदूर बारी बारी से शासन करते हैं। हर शासन का अपना गौरव और अपना दोष होता है। जब ब्राह्मण का राज्य होता है, तब आनुवंशिक आधार पर भयंकर पृथकता रहती है—पुरोहित स्वयं और उनके वंशज नाना प्रकार के अधिकारों से सुरक्षित रहते हैं, उनके अतिरिक्त किसी को कोई ज्ञान नहीं होता, और उनके अतिरिक्त किसी को शिक्षा देने का अधिकार नहीं है। इस विशिष्ट युग में सब विद्याओं की नींव पड़ती है, यह

इसका गौरव है। ब्राह्मण मन को उन्नत करते हैं, क्योंकि मन द्वारा ही वे राज्य करते हैं।

क्षत्रिय शासन क्रूर और अन्यायी होता है, परन्तु उनमें पृथकता नहीं रहती और उनके युग में कला और सामाजिक संस्कृति उन्नति के शिखर पर पहुँच जाती है।

उसके बाद वैश्य शासन आता है। इसमें कुचलने की और खून चूसने की मौन शक्ति अत्यन्त भीषण होती है। इसका लाभ यह है कि व्यापारी सब जगह जाता है, इसलिए वह पहले दोनों युगों में एकत्र किए हुए विचारों को फैलाने में सफल होता है। उनमें क्षत्रियों से भी कम पृथकता होती है, परन्तु सभ्यता की अवनति आरम्भ हो जाती है।

अन्त में आयेगा मजदूरों का शासन। उसका लाभ होगा भौतिक सुखों का समान वितरण--और उससे हानि होगी, कदाचित् संस्कृति का निम्न स्तर पर गिर जाना। साधारण शिक्षा का बहुत प्रचार होगा, परन्तु असामान्य प्रतिभाशाली व्यक्ति कम होते जायँगे।

यदि ऐसा राज्य स्थापित करना सम्भव हो जिसमें ब्राह्मण युग का ज्ञान, क्षत्रिय युग की सभ्यता, वैश्य युग का प्रचार-भाव और शूद्र युग की समानता रखी जा सके--उनके दोषों को त्याग कर--तो वह आदर्श राज्य होगा। परन्तु क्या यह सम्भव है ?

परन्तु पहले तीनों का राज्य हो चुका है। अब शूद्र शासन का युग आ गया है--वे अवश्य राज्य करेंगे, और

उन्हें कोई रोक नहीं सकता। सिक्के का स्वर्ण अथवा रजतमान रखने में क्या क्या कठिनाइयाँ हैं, मैं यह सब नहीं जानता (और मैंने देखा है कि कोई भी इस विषय में अधिक नहीं जानता), परन्तु मैं यह देखता हूँ कि स्वर्णमान ने धनवानों को अधिक धनी तथा दरिद्रों को और भी अधिक दरिद्र बना दिया है। ब्रायन ने यह ठीक ही कहा था कि 'सोने के भी क्रॉस पर हम लटकाये जाना पसंद न करेंगे।' रजतमान हो जाने पर इस असमान युद्ध में गरीबों के पक्ष में कुछ बल आ जायगा। मैं समाजवादी हूँ, इसलिए नहीं कि मैं इसे पूर्ण रूप से निर्दोष व्यवस्था समझता हूँ, परन्तु इसलिए कि रोटी न मिलने से आधी रोटी ही अच्छी है।

और सब मतवाद काम में लाये जा चुके हैं और दोष युक्त सिद्ध हुए हैं। इसकी भी अब परीक्षा होने दो---यदि और किसी कारण से नहीं तो उसकी नवीनता के लिए ही। सर्वदा एक ही वर्ग के व्यक्तियों को सुख और दुःख मिलने की अपेक्षा सुख और दुःख का बटवारा करना अच्छा है शुभ और अशुभ की समष्टि संसार में समान ही रहती है। नये मतवादों से वह भार कंधे से कंधा बदल लेगा, और कुछ नहीं।

इस दुःखी संसार में सब को सुख-भोग का अवसर दो, जिससे इस तथाकथित सुख के अनुभव के पश्चात् वे संसार, शासन-विधि और अन्य झंझटों को छोड़कर प्रभु के पास आ सकें।

तुम सबको मेरा प्यार।

शुभाकांक्षी,
विवेकानन्द

श्रीमाँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

सुश्री राधू का सहारा लेकर श्रीमाँ का मन जब लौकिक राज्य में उतरा था, उसके पश्चात् ही उनकी स्नेहमयी शीतल मन्दाकिनी धारा का अमृत-जल पीकर अनेक व्यक्ति परितृप्त और शीतल हुए थें। इसके पूर्व तो श्री ठाकुर के अन्तरंग भक्त तथा कुछ विशेष पुण्यवान् स्त्री–पुरुषों को ही इस अमृत के आस्वादन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। राधू की माँ, पगली मामी ने हमें बताया था, " 'राधि' 'राधि' कहकर व्यग्र और उसके लिए व्याकुल होने के पहले माँ को देखकर लगता था, मानो साक्षात् देवी की मूर्ति हो। पास जाने का साहस नहीं होता था। उस समय ननद जी दूसरी ही तरह की थी, देवी के समान ! पूजा के आसन पर जब बैठती, तो निकट जाने का साहस न होता। डर लगता। राधि राधि करके ही तो सब गया। देखो न, राधि के कारण ही तो इतना इतना सब झमेला हुआ।" माँ स्वयं राधू को दिखाकर कहतीं, "उसी के कारण यह सब है, नहीं तों मेरा मन ऊपर जाकर जाने कहाँ विलीन हो जाता है ! ठाकुर की कैसी अद्भुत लीला है, ऐसे मन को नीचे उतार इस राधू पर लगा रखा है !" जब राधू बेहद जिद और तंग करती तो कभी कभी माँ को मन्द मुसकान के साथ कहते सुना जाता, "वह समझती है कि उसके बिना मेरा काम नहीं चलता। अभी मन को अलग कर लूँ तो कहाँ रह जायगा

यह सब !" ठाकुर की इच्छा मान कर उनके ही कार्य के लिए श्रीमाँ ने राधू को निमित्त बनाकर संसाररूपी मरुभूमि में जीव-कल्याण हेतु स्नेह-मन्दाकिनी की धारा प्रवाहित कर रखी थी। संसार, रुपय-पैसे, स्वजन सम्बन्धी, लौकिक व्यवहार, सभी कुछ स्वीकार कर श्रीमाँ ने संसारी का रूप बना संसार को गृहस्थ धर्म की शिक्षा दी। मानव–हृदय की शुभ और अशुभ वृत्तियों तथा उनकी अभिव्यक्ति को समझकर, स्नेह और ममता पूर्वक वे जिस प्रकार वह सब नियंत्रित करती थीं, उसे देख बुद्धिमान लोग भी विस्मित हो जाते थे।

राधू के जन्म से पहले की बात सुनी है। श्रीमाँ के ध्यानस्थ जड़वत् शरीर को गोलाप-माँ, योगेन-माँ काठ की गुड़िया के समान एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर विठा दिया करतीं। उन्हें देह की सुध ही न रहती। भक्तगण प्रणाम कर रुपय-पैसे, फल, कपड़े आदि उनके श्रीचरणों में रख जाते, किन्तु उस ओर उनका ध्यान ही न जाता। सेविकाएँ उन वस्तुओं को उठा कर रखतीं और आवश्यकतानुसार सब उसका उपयोग करते, पर श्रीमाँ कभी उन वस्तुओं की टोह तक न लेतीं। राधि आयी, उनका मन नीचे उतरा, संसार फैला; माँ ने संसारी का वेष धारण किया और संसार का दायित्व अपने कन्धों पर लिया। संसार के दुःख-कष्ट और शोक-ताप का जननी ने अन्तर में अनुभव किया। जीव के दुःख से उनका हृदय विगलित हो उठा और उनके परित्राण के लिए उन्होंने

स्वयं को मिटा दिया। कलि के आर्त और भीत जीव ने श्रीमाँ को पाकर, उनकी स्नेह-सुधा का पान कर नवजीवन और नवीन बल प्राप्त किया।

श्रीमाँ के जीवन-चरित्र के पाठकों ने देखा है, राधू के आने के पश्चात् से माँ का संसार बढ़ता ही चला गया। कलकत्ते में माँ का घर—उद्बोधन—बनने के पश्चात् कोयालपाड़ा मे उनके लिए जगदम्बा आश्रम बना। जयरामवाटी में स्थानाभाव दूर करने के लिए पहले काली मामा का बैठकखाना बना, उसके पश्चात् धीरे-धीरे माँ के लिए अलग घर बनवाया गया। देश-विदेश से तरह तरह के भक्त स्त्री-पुरुषों का आवागमन बढ़ता ही चला। फलस्वरूप माँ की कृपा-वर्षा भी दिनों दिन बढ़ती चली।

जयरामवाटी में श्रीमाँ पिता के घर की पुत्री की भाँति रहा करतीं। यहाँ पर्दे की आड़, घूँघट का आवरण उतना नहीं था। सबके साथ वे निःसंकोच बातचीत करतीं। तभी तो भक्त जयरामवाटी में ही उनके दर्शन करना चाहते। उद्बोधन में श्रीमाँ ससुर के घर की बहू की भाँति रहतीं। वहाँ उनके दर्शन पाना, उनसे चर्चा करना कठिन होता। उद्बोधन का घर उनके लिए ही बनवाया गया था। पूजनीय शरत महाराज स्वयं को श्रीमाँ के घर का द्वारपाल माना करते। किन्तु फिर भी माँ समझतीं कि यह साधुओं का आश्रम है। इसीलिए जब वे सदलबल उद्बोधन में आकर रुकतीं, तो उनकी दृष्टि सदैव इस ओर रहती कि आश्रम में कोई असुविधा न हो।

उद्‌बोधन में निवास के समय भक्त और साधुगण ही उनकी सेवा-शुश्रूषा करते और जब वे जयरामवाटी में रहतीं, तो वे स्वयं सबकी सेवा-सूश्रूषा में व्यस्त रहतीं। स्वयं ही आवश्यक वस्तुएँ एकत्र करतीं, भोजन बनातीं, खिलाती-पिलातीं, जूठन साफ करतीं, अपनी सन्तानों के विश्राम की व्यवस्था करतीं। दूर दूर से आये हुए भक्तों को एक-दो दिन रोके विना जाने न देना चाहतीं। उनकी सुख-सुविधाओं के प्रति सदैव उत्कण्ठित रहतीं। यहाँ तक कि उनके घर-द्वार, स्वजन-सम्बन्धी आदि सभी की खोज-खबर लेतीं। सुख-दुख की बातें सुनतीं, सहानुभूति-संवेदना प्रकट करतीं, परामर्श देतीं। माँ आखिर माँ हीं है! सचमुच की माँ!! भक्तों को विदा करते समय दुःखी हो उठतीं, छोड़ नहीं पाती। उनकी सन्तानों में जब कोई जा रहा होता तो जहाँ तक दृष्टि जाती, माँ रास्ते की ओर ताकती रहतीं! आँखों से आँसुओ की धार झरती रहती! सन्तानों के हृदय में इस दृश्य की स्मृति बद्धमूल हो जाती।

उद्‌बोधन में श्रीमाँ वधू के समान रहतीं। उनके दर्शन पाना बड़ा कठिन होता। प्रसाद पा लेना तो महान् सौभाग्य की बात होती। उनके करकमलों से कुछ खा पाना तो असम्भव ही होता। उद्‌बोधन से माँ गंगा के घाट पर स्नान करने जातीं--सास का आँचल पकड़कर चलने वाली नयी बहू के समान गोपाल-माँ के पीछे पीछे! पूजनीय शरत् महाराज नित्य प्रति जब उन्हें प्रणाम करने जाते, तो वे ऐसा घूँघट खींचकर बैठतीं कि बाद में शरत्

महाराज उलाहना के स्वर में कहा करते, 'मुझे मानो ससुर समझती हैं !!'

लोक-मर्यादा के लिये इस प्रकार का संकोचपूर्ण व्यवहार करते हुए भी अपनी प्रियतम सन्तान शरत् के हृदय की आकांक्षा उन्होंने अपूर्ण नहीं रखी। सिद्ध पुरुष सारदानन्द ने जगज्जननी के प्रति माता एवं कन्या के रूप में अपनी सेवा, पूजा, भक्ति, स्नेह और वात्सल्य के भावों को प्रकट करने तथा उनके रस का आस्वादन करने का मनोवांछित अवसर समय समय पर प्राप्त किया था और इस प्रकार वे अपनी अद्भुत तपस्या और भक्ति-साधना के फल के भागी बने थे। एक बार कोयालपाड़ा में श्रीमाँ मलेरिया बुखार में पड़ी थीं। पित्त के प्रबल प्रकोप से शरीर में असह्य पीड़ा और जलन हो रही थी। वे छटपटा रही थीं। कलकत्ते से शरत् महाराज ने अनुभवी चिकित्सक डाक्टर कांजीलाल तथा विश्वस्त सेवक भूमा-नन्द को भेजा। पर उनकी चिकित्सा और सेवा से विशेष लाभ न होता देख महाराज स्वयं व्याकुल और चिंतित हो वहाँ आये। पुत्री देह की जलन से बेचैन है। 'ठण्डा करो' कह रही है ! चिकित्सक और सेवक के प्रयत्न विफल हो गये हैं। स्नेहमय पिता बिस्तर के पास खड़े हो पीड़ित हृदय और उदास नयनों से अपनी स्नेहां-कित कन्या की छटपटाहट देख रहे हैं ! विकल पुत्री ने पिता के शरीर पर हाथ रखा, देह की शीतलता से हाथ की जलन मिट गयी। 'आह, बची रे !' कह कर उसने

शान्ति की साँस ली ! पिता के प्राण उत्फुल्ल हो उठे। आश्वस्त हो उन्होंने तुरन्त अपना कुरता उतार फेंका और पास जाकर बैठ गये। अम्बिका द्वारा अपने लम्बोदर शिशु के स्निग्ध उदर के स्पर्श से हो, चाहे हैमवती के समान पिता हिमालय की देह के शीतल स्पर्श से हो, दारुण दाह उपशमित हुआ और पुत्री ने शान्ति की साँस ली ! पिता पुत्री दोनों के प्राण जुड़ाये !! श्रीमाँ इस प्रकार कभी-कभार शरत् महाराज को ऐसे विशुद्ध वात्सल्य रस का आस्वादन कराती रहती थीं। और देहत्याग के पूर्व अपनी अन्तिम बीमारी के समय तो इस माँ-पुत्री ने 'पिता के हाथ से भोजन कर' सारदानन्द जी की आन्तरिक आकांक्षा विशेष रूप से पूर्ण कर दी थी।

श्रीमाँ ने कृपा करके अपनी और भी किसी किसी दीन सन्तान को माँ के समान ही अपने हाथों से खिलाया है और पुत्री के समान उसके हाथों से खाया भी है।

अतीन्द्रिय लोक में सदा विचरण करने वाला राजा महाराज † का भावमग्न मन श्रीमाँ के सान्निध्य में एक छोटे से शिशु के समान हो जाता था।

माँ सदैव इस बात के लिए प्रयत्नशील रहतीं कि उनके सब भक्त अपने को एक ही माता की सन्तान समझें और आपस में भाई-बहन की तरह रहें। पर साथ ही वे इस ओर भी सजग रहतीं कि स्त्री और पुरुष भक्त एक दूसरे से अलग रहें तथा उनके बीच अधिक सम्पर्क और

---

†स्वामी ब्रह्मानन्द।

बातचीत न हो। जयरामवाटी के छोटे से मकान में एक साथ रहते और खाते-पीते हुए भी श्रीमाँ लड़कों को लड़कियों से सदा दूर ही रखतीं। विशेष प्रयोजन न होने पर लड़कों का घर के भीतर जाना या लड़कियों से बातचीत करना मना था। जलपान करने के लिए हो या अन्य किसी काम के लिए, श्रीमाँ स्वयं उन्हें बुलातीं, पास बैठकर खिलातीं और आवश्यक बातचीत करतीं; यहाँ तक कि अपने पास भी अधिक देर तक न बैठते देतीं;—कहतीं, 'बेटा! और कुछ न हो, पर आकार तो नारी का है!"

संन्यासी-सन्तानों की आध्यात्मिक प्रगति के लिए श्रीमाँ कितनी प्रयत्नशील रहतीं! कितने उपदेश देतीं! कभी हँसी में कहतीं, "बेटा! दुनियादारी नहीं की; जी भर सो तो सकोगे!" पूजनीय योगानन्द स्वामी का नाम लेकर कहतीं, "योगीन कहता था, 'माँ साधु हुए हैं, तो अब भर नींद सोकर मौज करेंगे'।" ये गृहस्थ सन्तानों को भी एकदम संसार में न डूबकर श्रीठाकुर का स्मरण करने तथा संयत जीवन बिताने के लिए तरह तरह के उपदेश देतीं। कहतीं, "एक-दो बच्चे हो जाने पर भाई-बहिन की तरह रहना। अलग अलग रहना। सम्भव हो, तो स्त्री बच्चों को लेकर दूर रहे, उनका पालन-पोषण करे तथा पुरुष धनार्जन कर उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करे।"

श्रीमाँ अपने भाई-भतीजियों की भोगतृष्णा से बड़ी दुखी होतीं तथा समय समय पर अपने हृदय की चिढ़ को प्रकट भी करतीं। संसार में जीवन-धारण करने पर

रुपय-पैसों से सोलहों आने सम्बन्ध तोड़ लेना सम्भव नहीं हो पाता। श्रीमाँ को भी रुपय-पैसे रखने पड़ते। सोच-समझकर खर्च भी करतीं। किन्तु सर्वदा निर्लिप्त भाव! पैसे का अभिमान, संचय की लालसा, अहंकार आदि श्रीमाँ के स्वभाव में कभी किसी ने नहीं देखा। पहले-पहल तो श्रीमाँ रुपय-पैसे का स्पर्श तक न कर पातीं। बाद में जब उनके संसार का विस्तार हुआ और धन की आवश्यकता हुई, तब यथेष्ट धन आने लगा, किन्तु वह किसी झरने के जल के समान आता और चला जाता, माँ के हृदय को स्पर्श तक न कर पाता।

जयरामवाटी में डाकिया मनीआर्डर के रुपय लेकर आया। माँ ने फार्म पर अँगूठे का निशान लगा दिया तथा किसी दूसरे ने लिख दिया—'श्रीसारदादेवी का अँगूठा निशान...।' डाकिये ने ही रुपय गिनकर दिखा दिये। माँ ने मुट्ठी में रुपय लिये और घर के भीतर रख दिया। डाकिये को प्रसाद देकर, उससे दो-चार मीठी बातें कर उसे बिदा किया। किसी को मालूम न हुआ कि कितने रुपय आये और किसने भेजे। बाद में सुविधानुसार किसी से पत्र लिखाकर भक्तों को आशीर्वाद तथा रुपय-प्राप्ति की सूचना भेज दी। कभी कोई सेवक उपस्थित रहता और वह मनीआर्डर ले लेता, तो उसे माँ रुपय को बहुत जाँचने-परखने और हिलाने-डुलाने से मना करतीं, कहतीं, "बेटा! रुपय की आवाज सुनने से ही गरीब के मन में लोभ उत्पन्न हो जाता है। रुपया ऐसी चीज है कि उसे

देखकर काठ की पुतली भी मुँह फाड़ देती है !"

भक्तगण कितनी अच्छी अच्छी चीजें-फल, मिठाई, कपड़े-लत्ते आदि लेकर आते। माँ प्रसन्नवदन हो वह सब ग्रहण करतीं और आशीर्वाद देतीं। वे अपनी सन्तानों को सन्तुष्ट करने के लिए ही इन चीजों को ग्रहण करतीं। इन वस्तुओं के प्रति कभी किसी ने उनका आकर्षण नहीं देखा।

वे स्वयं जिन वस्त्रों का व्यवहार करतीं, वे मध्यम वर्ग के लोगों द्वारा उपयोग किये जाने लायक वस्त्र ही होते। उन्हें भी वे तब तक उपयोग में लाती रहतीं, जब तक कि वे एकदम बेकार न हो जाते। यहाँ तक कि वे सी-सीकर कपड़े पहनतीं। नवीन एवं मूल्यवान वस्त्रों को आनन्दपूर्वक बाँट देतीं। उनको एक भक्त-सन्तान थे सुरेन्द्रनाथ गुप्त। जिन दिनों वे आसाम में नौकरी करते थे, उन्होंने माँ से वहाँ का एक मूल्यवान् प्रसिद्ध अण्डी का कपड़ा ले लेने का बहुत आग्रह किया। जब माँ ने सुना उस कपड़े का मूल्य अस्सी रुपय है, तो उन्होंने दाँतों तले जीभ दवा ली और किसी भी प्रकार उस कपड़े-को लेना स्वीकार नहीं किया। अपनी सेवा के लिए भक्त के हृदय की व्याकुलता को समझ उन्होंने कहा, "यदि वह रुपय खर्च करना ही चाहता है, तो उससे कहो थोड़ी जमीन खरीद दे, उससे साधु-भक्तों की सेवा होगी।"

उनकी साधु और भक्त सन्तानें जयरामवाटी आकर एक दिन रह सकें और भरपेट भोजन कर सकें,

इसके लिए माँ का कैसा आग्रह था ! देह त्याग के कुछ वर्ष पूर्व घर–द्वार जमीन–जायदाद की व्यवस्था कर, स्वयं सबको श्री जगद्धात्री के नाम देवोत्तर सम्पत्ति करवा, वे अपनी सन्तानों की सुख-सुविधा की स्थायी व्यवस्था कर गयीं। पूजनीय रामलाल दादा के मुँह से सुना है कि अपने कामारपुकुर के अन्तिम निवास के समय श्रीठाकुर ने भी शिहड़ ग्राम में जमीन ले उसे श्री रघुवीर के नाम पर देवोत्तर कर दिया था।

जयरामवाटी में देखा जाता कि जब सब पुरुष-भक्तों को भोजन करा चुकतीं, तब माँ निश्चिन्त मन से महिला-भक्तों के साथ भोजन करने बैठतीं। दैवयोग से कोई लड़का यदि किसी काम से बाहर गया होता, तो चाहे कितनी ही देर क्यों न हो जाय, माँ उसकी प्रतीक्षा करती रहतीं––रास्ते की ओर ताकतीं, आगे जाकर खड़ी हो जातीं। 'बच्चे ने अभी तक खाया नहीं है, भूख से कष्ट पा रहा रहा होगा, यह सोचकर अधीर हो उठतीं।

पर उद्‌बोधन में मुश्किल होती बच्चों को खिलाये विना माँ खायेंगी नहीं, और गुरुगत प्राण निष्ठावान् भक्त सारदानन्द इष्ट देवी के भोजन से पूर्व भला कैसे खायेंगे ? इसलिए ऐसी व्यवस्था की गयी थी कि जिस समय माँ महिलाओं को लेकर एक कमरे में भोजन करने बैठेंगी, ठीक उसी समय शरत महाराज दूसरे कमरे में लड़कों के साथ बैठकर भोजन करेंगे। माँ तो ग्रामीण बाला ठहरीं ! देर से खाने की आदत। इसलिए शरत महाराज

भी हाथ का काम देर से समाप्त करते। श्रीठाकुर का प्रसाद ज्योंही माँ की थाली में परोसा जाता, माँ जल्दी से उसे अपने मुँह से लगाकर शरत् के लिए महाप्रसाद बना देतीं। गोलाप-माँ चुपके से वह प्रसाद लाकर महाराज को दे देतीं और भाग्यवान् साथी भी उस महाप्रसाद से वंचित न रहते!

सन्तानों की सुख-सुविधा की ओर माँ की पैनी नजर रहती। बच्चों का सूखा हुआ चेहरा, दीन वेश, दुबला-पतला शरीर माँ देख न पातीं। इसलिए उद्बोधन में रहने-खाने की अच्छी व्यवस्था हुआ करती। भोजन के पश्चात् सब लोग पान खायेंगे इसलिए माँ स्वयं पान लगा रखतीं। जिन्हें पान का शौक होता, उन्हें अधिक पान मिलता। सादे थान की धोती लड़कों को नहीं फबती। माँ को भक्तगण पतले किनार की अनेक धोतियाँ दे जाते। उनकी स्वयं की आवश्यकता बहुत थोड़ी थी। वह सब वे मुक्त हस्त से लड़के-लड़कियों में बाँट देतीं। लड़कों में कोई कोई शौकीन होते। माँ सब जानतीं। उन्हें सुन्दर किनारवाली महीन धोती देतीं और जो मोटा पसन्द करता उन्हें वैसे ही कपड़े देतीं। किसी किसी के कपड़े जल्दी फट जाते, तो माँ ऐसे लोगों को अधिक कपड़े देतीं। जलपान, भोजन आदि सभी चीजों में जिसे जो रुचता और जिसके पेट में जो सहता, माँ उसे वही देतीं।

कैसी आश्चर्यजनक पैनी दृष्टि थी माँ की! सोचकर चकित रह जाता हूँ। जयरामवाटी में विभिन्न

स्थानों के भक्तों का समागम होने पर माँ रसोईदारिन मौसी को ठीक ठीक बता देतीं कि कौन क्या खायेगा, कितनी मात्रा में खायेगा; यहाँ तक कि रोटियों की संख्या भी ! तभी तो माँ के घर माँ के पास भोजन करके सन्तानों को इतनी तृप्ति होती। ठाकुर के शब्दों में 'माँ ठीक जानती है कि किस बच्चे के पेट में क्या सहता है !'

(क्रमशः)

●

माँ क्या हैं, तुम कुछ समझ न सके, अभी तक तुममें से कोई भी न समझ सका; धीरे धीरे समझ सकोगे।... मुझ पर माँ की कृपा पिता की कृपा से लाख गुनी अधिक है।...दादा, क्षमा करना। दो खुली-खुली बातें कह दीं।...बस यहीं पर माँ के सम्बन्ध में मैं जरा कट्टर हूँ। माँ की आज्ञा होते ही यह भूत वीरभद्र सब कुछ कर सकता है। तारकदादा, अमेरिका आने के पहले मैंने चिट्ठी लिखकर माँ से आशीर्वाद माँगा था। उन्होंने आशीर्वाद दिया, और बस मैं छलांग मारकर सागर-पार हो गया।

—स्वामी विवेकानन्द

आध्यात्मिक प्रगति के उपाय

स्वामी बुधानन्द

(स्वामी बुधानन्द अद्वैत आश्रम, मायावती, अलमोड़ा, हिमालय के अध्यक्ष हैं। वे सुप्रसिद्ध अँगरेजी मासिक पत्रिका 'प्रबुद्ध भारत' का सम्पादन भी करते हैं। उनके धारावाहिक लेख उक्त पत्रिका में 'Essay on Applied Religion' के स्तम्भ से छप रहे हैं। उनकी व्यावहारिक उपयोगिता देख हम हिन्दी भाषी पाठकों के लाभार्थ उन्हें अनूदित कर धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। --सं०)

आध्यात्मिक जीवन क्या है

यह निश्चित है कि ऐसे लोग, जो अलग अलग स्तर के निष्ठावान् जिज्ञासु हैं, आध्यात्मिक प्रगति करना चाहते हैं।

परन्तु आध्यात्मिक प्रगति कैसे की जाय ?

इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम 'आध्यात्मिक जीवन' का सही अर्थ क्या है, यह बनते तक अच्छी तरह से समझ लें। आध्यात्मिक जीवन का स्पष्ट ज्ञान आध्यात्मिक प्रगति का आधार है।

भगवान् श्रीकृष्ण गीता में (१८/६१) कहते हैं-- 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' --'हे अर्जुन ! ईश्वर सभी के हृदय मे रहते हैं।' इस महान सत्य का सतत चिन्तन करते रहना कि ईश्वर हमारे हृदय में विराजित हैं, तथा इस जीवन में जो कुछ हम सोचें या न सोचें, करें या न करें उसके माध्यम से इस सत्य की अधिकाधिक प्रतीति करते रहना, यही आध्यात्मिक जीवन है।

अथवा, आध्यात्मिक जीवन को एक अन्य दृष्टिकोण

से भी देखा जा सकता है। मनुष्य जड़ और चेतन का एक विचित्र समन्वय है। मानव देह और मन जड़ से निर्मित हैं। पर उसका आत्मा या जीव जड़ नहीं है। यह आत्मा ही यथार्थ मनुष्य है। आत्मा सर्वव्यापी और सर्वसमर्थ है, क्योंकि वह परमात्मा से एकरूप है। फिर भी आत्मा पर देह और मन इस पूरी तरह अधिकार जमाये रखते हैं कि हम उसके अस्तित्व को ही भूले रहते हैं। परन्तु आध्यात्मिक साधनाओं के द्वारा इस सम्पूर्ण परिस्थिति में परिवर्तन लाया जा सकता है, जिससे आत्मा देह एवं मन पर शासन करने लगे। इसे साधित करने की प्रक्रिया और इस प्रक्रिया की चरम परिणति को मिलाकर आध्यात्मिक जीवन कहते हैं।

संक्षेप में, ईश्वर-दर्शन और आत्म-साक्षात्कार के लिए किया गया साभिप्राय, श्रद्धायुक्त, दृढ़निश्चयी और लक्ष्यपूरक प्रयास ही आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश की तैयारी है। इस प्रयास की चरम परिणति आध्यात्मिक जीवन की परिपूर्णता है।

वास्तव में, आध्यात्मिक जीवन किसी वीर का ही काम है। वह मनुष्य के अन्दर निहित आन्तरिक क्रान्ति-कारी का ही कार्य है।

'आध्यात्मिक जीवन'--इन शब्दों का अर्थ है आत्मा में और आत्मा का जीवन। हममें से जो धर्म की प्रेरणा पाकर आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहते हैं, वे विकासक्रम के पशु की अपेक्षा ऊँचे स्तर के लोग हैं। मुख्यत: हम

लोग मनोदैहिक जीव हैं। हमारा जीवन मानसिक एवं भौतिक दोनों है। मन का विकास करने पर हम यह जान पाते हैं कि जीवन इस जड़ और मन से अधिक है। जीवन में एक उच्चतर तत्त्व सन्निहित है, चाहे उसे ईश्वर कहो या आत्मा अथवा ब्रह्म।

पहले हमें इस सत्य की सैद्धान्तिक जानकारी मिलती है। पर एक समय ऐसा आता है, जब यह सैद्धान्तिक ज्ञान हमारे मन पर पूरी तरह से छा जाता है और हम इस सत्य के साक्षात्कार के लिए व्याकुल हो उठते हैं। हम ईश्वर के दर्शन पाना चाहते हैं। हम इस सत्य की अनुभूति करना चाहते हैं कि हमारा वास्तविक स्वरूप आत्मा है, न कि यह देह अथवा मन। विशुद्ध अर्थ में आध्यात्मिक जीवन का यही एक तात्पर्य हो सकता है। आत्मा या चेतना के प्रत्यक्ष अनुभव के बाद ही कोई ऐसा जीवन जी सकता है, जो वास्तव में आध्यात्मिक है। ईश्वर-दर्शन के बाद ही ऐसा जीवन जिया जा सकता है, जो वास्तव में दिव्य है। पर यहाँ हम 'आध्यात्मिक-जीवन' को उसके विशुद्ध अर्थ में नहीं लेंगे। हम तो अपने समझने के लिए उसका एक आपेक्षिक अर्थ लेंगे, जिसका तात्पर्य होगा ईश्वर-दर्शन या आत्म-साक्षात्कार के लिए एक सच्चे साधक द्वारा किये जानेवाले निष्ठायुक्त प्रयास।

यहाँ पर हमने 'आत्म-साक्षात्कार अथवा ईश्वर-दर्शन' इन शब्दों का प्रयोग किया है। दार्शनिक दृष्टि से इन दोनों मान्यताओं में कुछ अन्तर किया जाता है। परन्तु

अध्यात्म की दृष्टि से ये दोनों एक ही बात हैं, जिसका आशय है जीव की ज्ञान-प्राप्ति अथवा जन्म-मरण के चक्कर से मुक्ति। जब हम सत्य का चिन्तन व्यक्ति के रूप में करते हैं, तब उसे ईश्वर कहते हैं। और जब तत्त्व की दृष्टि से उसका चिन्तन किया जाता है, तो उसे आत्मा या ब्रह्म कहा जाता है। विशुद्ध अर्थ में ये दोनों शब्द (आत्मा और ब्रह्म) एक दूसरे के पर्यायवाची हैं।

इससे यह निष्कर्ष निकला कि 'आत्म-साक्षात्कार' 'ईश्वर-दर्शन', 'ज्ञान-प्राप्ति', 'मुक्ति प्राप्त करना' या 'निर्वाण', ये सब आध्यात्मिक दृष्टि से एक ही अवस्था के विभिन्न नाम हैं।

आध्यात्मिक जीवन किनके लिए

अब चाहे हम इसे निरपेक्ष दृष्टि से समझें, अथवा सापेक्ष दृष्टि से, आध्यात्मिक जीवन सबसे श्रेष्ठ साहसिक कार्य है और जहाँ तक मैं समझता हूँ, मानवप्राणी ही इसे कर सकते हैं।

हम यह अच्छी तरह समझ लें कि आध्यात्मिक जीवन एक वीर का ही काम है। एक क्रान्तिकारी ही इसे कर सकता है, क्योंकि सचमुच यह एक आन्तरिक क्रान्ति है। यह भीरू या अस्थिर चित्त वाले के लिए नहीं है। मुण्डकोपनिषद् में (३/२/४) कहा गया है:——

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्।'
——'आत्मा उस व्यक्ति को उपलब्ध नहीं हो सकता, जो बलहीन और प्रमादयुक्त है।'

आलसियों और प्रमादियों के लिए आध्यात्मिक जीवन नहीं है, वह सजग और दृढ़निश्चयी के लिए है। यह उसके लिए है, जो आत्मोपलब्धि के लिए जीवन के सभी सन्तापों, कष्टों और क्लेशों को सहते हुए सतत प्रयास करने के लिए तैयार है।

आध्यात्मिक जीवन कभी भी किसी भी धर्म के ढोंगियों के लिए नहीं रहा।

वे मूढ़ संसारी जन, जो धर्म को व्यापार का साधन बना लेते हैं, भले ही प्रचुर सम्पत्ति अर्जित कर लें, परन्तु वे तब तक आध्यात्मिकता को नहीं पा सकते, जब तक अपनी सांसारिकता को त्यागकर ईश्वर के लिए नहीं रोते।

प्रसिद्ध भक्त-साधक रामप्रसाद जगन्माता को सम्बोधित कर गाते हैं :—

'माँ, मैंने अपनी निद्रा को सुला दिया है,
योग याग से सदा सर्वदा जाग रहा हूँ।'

आध्यात्मिक जीवन उसके लिए नहीं है, जिसने दुनिया की सारी सुविधाओं, भ्रान्तियों और भुलावों से सहर्ष समझौता कर लिया है और जो अपने स्वरूप से सम्बन्धित जटिल या अरुचिकर प्रश्नों से कतराता है। यह तो उसके लिए है, जो गहन रात्रि के निविड़ अन्धकार में बैठकर विश्व के सूने और एकाकीपन का सामना करते हुए इन अति सरल प्रश्नों को पूरी लगन के साथ पूछता है—'मैं कौन हूँ ?' 'मैं यहाँ से कहाँ जाऊँगा ?' 'इस सबका क्या अर्थ है ?' यह उसके लिए है, जो ऐसी

वस्तु के लिए रोता है जिसे यह सारा भौतिक संसार देने में असमर्थ है।

जब मनुष्य भौतिक धरातल पर रहता है, तब उसे आध्यात्मिक साधना से अधिक विचित्र और अर्थहीन कुछ नहीं लगता। परन्तु जिनका भ्रम मिट गया है, मोह-निद्रा टूट चुकी है, उनके लिए आध्यात्मिक जीवन से अधिक आकर्षक कुछ नहीं। इस आकर्षण के भीतर उसके सभी आकर्षण समाहित हो जाते हैं और यह इतना अधिक प्रभावशाली हो जाता है कि इसके लिए कई राजाओं और रानियों ने अपने राज्य तक का स्वेच्छा से परित्याग कर दिया है; अपने हाथों से लोगों ने अपनी सुरक्षा के गढ़ों की दीवारों को ढहा दिया है। उन्होंने अपने शरीर को कष्टप्रद परन्तु पवित्र करनेवाले तपों से सुखा डाला है। उन्होंने हँसते हँसते अपनी गर्दन आततायियों की तलवारों के नीचे रख दी है। आत्मा में जीने के लिए लोगों ने वर्ष पर वर्ष संसार के लाभ-हानि की चिन्ता न करते हुए ईश्वर का नाम हर साँस के साथ लिया है।

कोई मनुष्य ऐसा नहीं है, जो आध्यात्मिक जीवन से सदा के लिए दूर रह सके। आत्मा जैसे मनुष्य के भीतर सदैव है, वैसे ही आध्यात्मिक जीवन भी। मनुष्य के बारे में और कोई बात इतनी निश्चित नहीं, जितनी कि यह कि एक दिन उसके जीवन के भौतिक अंश को उसका आत्मा छा लेगा। इस आच्छादन की मात्रा का अन्तर ही आध्यात्मिक प्रगति की अवस्थाओं का अन्तर सूचित करता है।

परन्तु यह आध्यात्मिक प्रगति कैसे की जाती है ? क्या वह अनायास ही हो जाती है, अथवा उसे बढ़ाने का कोई तरीका है ?

आध्यात्मिक प्रगति कैसे की जाय यह जानने के लिए हमें उनकी शरण लेनी होगी, जिन्होंने मानव के साधारण धरातल से उस पूर्ण ज्ञान की अवस्था तक का मार्ग स्वयं तय किया है। केवल पूर्णज्ञानी, सन्त और ईश्वरावतार ही इस विषय में सिखला सकते हैं। कोरे विद्वान् पण्डितों से, भले ही वे कितने ही प्रसिद्ध और नामी क्यों न हों, हम इसका उत्तर जानने की भूल न करें।

आध्यात्मिक प्रगति कैसे की जाय, इस प्रश्न के उत्तर में हम यह देखेंगे कि ऐसे शिक्षकों से हम क्या सीख सकते हैं।

सामान्यत:, इस सम्बन्ध में दो प्रकार के उपदेश हैं। उपदेशों का एक प्रकार यह बतलाता है कि आध्यात्मिक प्रगति की बाधाएँ क्या हैं, और दूसरा प्रकार आध्यात्मिक प्रगति के सहायक तत्त्वों की चर्चा करता है। दोनों प्रणालियाँ समानरूप से महत्त्व की हैं।

आध्यात्मिक प्रगति की बाधाएँ

आध्यात्मिक प्रगति की बाधाएँ क्या हैं ?

(१) श्रीरामकृष्ण देव सर्वाधिक जोर देकर यह बात कहते थे कि यदि किसी के 'भाव-क्षेत्र में चोरी' हो, तो वह आध्यात्मिक प्रगति नहीं कर सकता। 'भाव-क्षेत्र में चोरी' इस मुहावरे का अर्थ है हृदय की कपटता, या कथनी और

करनी में अन्तर। जिस व्यक्ति के विचार, वचन और कर्म आपस में एक दूसरे से कोई तालमेल न रखते हों, उसने अभी आध्यात्मिक जीवन की सीमा के भीतर कदम ही नहीं रखा है।

(२) स्वयं से घृणा करनेवाला आध्यात्मिक प्रगति नहीं कर सकता। चाहे जो भी अपराध या पाप हुए हों, प्रत्येक को अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति एक आधारभूत श्रद्धा रखनी चाहिए। प्रत्येक को पूर्ण और अन्तिम ज्ञान की उपलब्धि कर सकनें के अपने सामर्थ्य पर विश्वास होना चाहिए।

(३) बिना श्रद्धा के कोई मनुष्य आध्यात्मिक प्रगति नहीं कर सकता, क्योंकि श्रद्धा ही आध्यात्मिक जीवन की जड़ और आधार है।

(४) जो दोष-दर्शन की आदत को पालता है, वह आध्यात्मिक प्रगति नहीं कर सकता। यह आदत उसके मन को दूसरों के दोषों से भर देता है, फिर उसके अपने दोष तो रहते ही हैं।

(५) जो आदतन जल्दबाज और चिन्तायुक्त है, वह आध्यात्मिक प्रगति नहीं कर सकता। उसके मन की अवस्था एकाग्रता, ध्यान आदि आध्यात्मिक साधनाओं के अनुकूल नहीं हो पाती।

(६) जो आरामतलब है, वह आध्यात्मिक प्रगति नहीं कर सकता, क्योंकि आध्यात्मिक जीवन कठोर संघर्ष-पूर्ण है। यदि साधक के भीतर आन्तरिक संघर्ष न हो, तो

सम्भवतः वह अपनी निम्न वृत्तियों से समझौता कर पतन को ही प्राप्त होगा। निम्न वृत्तियों पर अधिकार कर पाना कोई आकस्मिक घटना नहीं है। वह कष्टसाध्य आत्म-संयम और यम-नियमों के पालन से ही सधता है।

(७) जिसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, वह आध्यात्मिक प्रगति नहीं कर सकता। जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण भगवद्गीता में (२/६७) कहते हैं—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

—'जल में वायु नाव को जैसे हर लेती है, उसी प्रकार विषयों में विचरण करती हुई इन्द्रियों में से जिस भी इन्द्रिय के साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस पुरुष के विवेक का हरण कर लेती है।'

जब विवेक नष्ट हो जाता है, तब आध्यात्मिक प्रगति भी सम्भव नहीं।

(८) किसी समय शराबियों का एक दल नौका-यात्रा के लिए निकला। खूब मौज में नशे में धुत्त वे लोग नाव पर सवार हुए। शराब के नशे से जितनी शक्ति और स्फूर्ति उन्हें प्राप्त हो सकती थी, उससे पूरी रात गाते-हंसते वे नाव खते रहे। प्रातः होने पर जब उनका नशा उतरा, तब उन्होंने आश्चर्य से देखा कि जहां से वे निकले थे, उस स्थान से एक इंच भी नहीं हटे हैं। वे नाव का लंगर उठाना ही भूल गये थे !

इसलिए जो लोग नावका लंगर नहीं उठाते, वे आध्या-

त्मिक प्रगति नहीं कर सकते। लंगर उठाने का मतलब है अपने भीतर की कुप्रवृत्तियोंका उचित नैतिक आचरण द्वारा मलोच्छेदन करना। कठोपनिषद्‌में (१/२/२४) आता है--

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

--'जिसने दुराचरण का त्याग नहीं किया, जो समाहित और संयत नहीं है तथा जिसका मन शान्ति से युक्त नहीं, वह उस आत्मा को नहीं पा सकता...।'

दृढ़ नैतिक चरित्र की आवश्यकता

परमात्मा पर अपनी दृष्टि स्थिर करने में नैतिक भ्रष्टाचरण बहुत बड़ी वाधा है। धुँधली दृष्टि से सत्य को ठीक से समझा नहीं जा सकता। इसीलिए हम पाते हैं कि विश्व के सभी महान् धर्मगुरुओं ने आध्यात्मिक जीवन को सबल नैतिक आचरणों की ठोस बुनियाद पर खड़ा करने के लिए सर्वाधिक जोर दिया है।

कुछ पाश्चात्य चिन्तकों के भ्रमात्मक विचारों के विपरीत, हिन्दू धार्मिक चिन्तन में मनुष्य के विचार, व्यवहार और कर्म में नैतिक आचरणों के महत्त्व पर अत्यन्त सूक्ष्मता से ध्यान दिया गया है। यहाँ अभी हिन्दू धर्म की नैतिक मान्यताओं के विस्तार में जाने का प्रयोजन नहीं है। हम केवल इतना ही इंगित करना चाहते हैं कि आध्यात्मिक प्रगति करने के लिए साधक का जीवन और व्यवहार नैतिक आचरण पर खड़ा होना चाहिए। संस्कृत में 'धर्म' शब्द प्रायः नीतिशास्त्र के लिए

प्रयुक्त होता है। हिन्दुओं के एक प्रसिद्ध नीति-शास्त्रकार महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी 'स्मृति' में (३/६६) लिखते हैं--

सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीः शौचं धीर्धृतिर्दमः।
संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सर्व उदाहृतः॥

--'सत्यता, अस्तेय, अक्रोध, लज्जाशील, पवित्रता, विवेक, आत्म-सन्तुलन, आत्म-संयम, इन्द्रिय-निग्रह, विद्या--यही सम्पूर्ण धर्म कहलाता है।'

ऐसा साधक जिसने भले ही बरसों साधु का वेश धारण किया हो, परन्तु यदि अपने चरित्र में इन गुणों को प्रकट नहीं करता, तो वह अध्यात्म के क्षेत्र में प्रवेश नहीं पा सकता। ऐसा साधक यदि आध्यात्मिक प्रगति करना चाहता है, तो उसे इन नैतिक गुणों को अपने भीतर पुष्ट करने का अभ्यास करना पड़ेगा। सजग अध्यवसाय से ही इन गुणों पर प्रभुत्व पाया जा सकता है।

नैतिक आचरण पर जीवन के खड़े होते ही साधक में उन दैवी गुणों का प्रकाश दिखायी पड़ने लगता है, जिन्हें भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में (१६/१-३) दैवी-सम्पद् के नाम से पुकारा है। ये गुण हैं--

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

——'सर्वथा भय का अभाव, अन्तःकरण की स्वच्छता, तत्त्व-ज्ञान के लिए ध्यानयोग में निरन्तर दृढ़ स्थिति, सात्त्विक दान, इन्द्रियों का दमन, यज्ञ, वेदशास्त्रों का पठन-पाठन, कठोरता, ऋजुता, अहिंसा, सत्य भाषण, क्रोध का अभाव, त्याग, शान्ति, दोष-दर्शन का अभाव, सब प्राणियों के प्रति दया, लालच का अभाव, मृदुता, उचित संकोच, अस्थिरता का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर-भीतर की शुद्धि, किसी में शत्रुभाव का न होना, अभिमान का अभाव।'

यहाँ दिखायी पड़ेगा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने कुछ नैतिक गुणों को दैवी-सम्पद् में समाविष्ट किया है, और साथ ही अन्य भी ऐसे गुण हैं, जो इस दैवी-सम्पद् के अन्तर्गत रखे गये हैं। इससे स्पष्ट है कि बिना नैतिक हुए आध्यात्मिक नहीं बना जा सकता, परन्तु आध्यात्मिक बनने के लिए मात्र नैतिकता पर्याप्त नहीं। आध्यात्मिक को नैतिक से पृथक करने वाला जो तत्त्व है, वह है ईश्वर या आत्मा के अस्तित्व का भान। नास्तिक भी नैतिक हो सकता है, परन्तु वह सही अर्थ में आध्यात्मिक नहीं हो सकता। आध्यात्मिक का सम्बन्ध आत्मा से है। किसी व्यक्ति के आध्यात्मिक होने के लिए, नैतिक होने के अलावा, उसमें यह भाव सदा बने रहना चाहिए कि उसका परमात्मा से सम्बन्ध है, अथवा कम से कम, उसमें ऐसा निश्चय होना चाहिए कि वह देह और मन से परे ऐसा कुछ है, जिसका इन्द्रियों से अनुभव नहीं किया जा सकता।

जीवन की अतियों का परित्याग

सुखासक्ति या आत्मपीड़न की अतियाँ आध्यात्मिक जीवन की बड़ी बाधाएँ हैं। तभी तो भगवान् श्रीकृष्ण गीता में (६/१६-१७) कहते हैं--

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

--'हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खानेवाले का सिद्ध होता है और न बिलकुल नहीं खानेवाले का, न अति सोनेवाले का और न अत्यन्त जागनेवाला का। यह दुःखों का नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार और विहार करनेवाले, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करनेवाले तथा यथायोग्य शयन करने एवं जागनेवाले का ही सिद्ध होता है।'

योग का अर्थ है सच्ची आध्यात्मिक प्रगति। भगवान् बुद्ध अपने प्रसिद्ध मध्यमार्गी पथ के उपदेश में इसी सत्य पर जोर देते हैं।

जो अपनी पहुँच के ऊपर छलाँग लगाने की कोशिश करते हैं, वे आध्यात्मिक प्रगति नहीं कर सकते। आध्यात्मिक जीवन में काल के प्रभाव को मानना ही पड़ता है। जब तक हम किसी अनुभूति को समझने की पात्रता प्राप्त न कर लें, तब तक उसे चाहना गलत होगा। अन्य शब्दों में, आध्यात्मिक प्रगति के लिए सदैव अति चिन्तित और

व्यग्र रहना आध्यात्मिक प्रगति के लिए प्रेरक नहीं है। ई. कैड्लोगेस्की और जी. ई. एच. पामर द्वारा लिखित प्रसिद्ध पुस्तक 'Writings from the Philokalia on Prayer of the Heart' में (पृष्ठ २३२) हम उपदेश पाते हैं:--

"यदि कोई मनुष्य यह जानने को उत्सुक हो कि इसके बाद क्या आयेगा और यदि उस बात को वर्तमान में बतानें का उचित समय न आया हो, तो उसे निम्न-लिखित नियम का कड़ाई से पालन करना होगा--

'जो अपने समय से होनेवाला है, उसे पहले से जानने की कोशिश मत करो; क्योंकि अच्छा भी यदि उचित ढंग से न किया जाय, तो अच्छा नहीं रहता।' और सन्त मार्क कहते हैं, 'पहली सीढ़ी का अभ्यास किये बगैर दूसरी सीढ़ी के सम्बन्ध में जानना लाभप्रद नहीं है; क्योंकि ज्ञान बिना अभ्यास के मिथ्या दर्प बढ़ाता है, जबकि दानशीलता उन्नत बनाती है, क्योंकि वह सबका धारण करती है।' "

श्रीरामकृष्ण देव उपदेश देते हैं--

"...मादा-पक्षी तब तक अण्डे को नहीं फोड़ती, जब तक अन्दर का चूजा परिपक्व न हो जाय। समय पूरा होने पर ही अण्डा सेया जाता है। उसी प्रकार कुछ आध्यात्मिक साधनाओं का अभ्यास आवश्यक है।"

श्रीरामकृष्ण देव आगे एक एक सीढ़ी चढ़ने के महत्व पर बतलाते हैं--

"जब मनुष्य लिखना सीखता है, तब छोटे सुन्दर अक्षर बना सकने के पहले टेढ़े मेढ़े बड़े अक्षर खींचता

है, वैसे ही मनुष्य को मानसिक एकाग्रता लाने के लिए पहले-पहल मूर्ति में ध्यान केन्द्रित करना चाहिए, और जब उसमें सिद्धि हासिल हो जाय, तो वह बाद में आसानी से निराकार में ध्यान लगा सकता है।

"निशानेबाज पहले-पहल बड़े बड़े निशानों पर निशाना साधने का अभ्यास करता है; और जैसे जैसे उसमें सिद्धहस्त होता है, वैसे वैसे वह आसानी से छोटे छोटे निशानों को भेद लेता है। इसलिए जब मन को साकार पर केन्द्रित करने के लिए साध लिया जाता है, तब उसके लिए निराकार पर केन्द्रित होना सहज हो जाता है।"

महर्षि पतंजलि का 'योग सूत्र' में (२/२९) उपदेश है—

यमनियमासनप्राणायाम प्रत्याहारधारणाध्यान-
समाधयोऽष्टावङ्गानि ।

——'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योग के आठ अंग हैं।'

योगाभ्यास में साधक को अगली सीढ़ी पर पहुँचने के लिए बीच की सीढ़ियों का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। उदाहरणार्थ, पहला अभ्यास 'यम' लें। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह——ये पाँच यम हैं। पतंजलि ने इन यमों को 'सार्वभौमा महाव्रत:'——सार्वभौम महाव्रत कहा है, जो जाति, देश, काल और निमित्त के नियमों से खण्डित नहीं होते। जिन्होंने अध्यवसाय के साथ और सही ढंग से इस प्रथम साधन—यम—का पालन नहीं किया है, उन्हें समाधि की आशा नहीं करनी चाहिए। परन्तु आश्चर्य है कि

ऐसे बहुत से लोग, जो गम्भीरता से धार्मिक बनने की इच्छा रखते हैं, करते ऐसा ही हैं। यह सोचना कि ये यम–नियम तो साधारण लोगों के लिए हैं, उसके जैसे विशेष साधक के लिए नहीं, महज अहंकार है, जो आध्यात्मिक जीवन की सबसे बड़ी बाधा है। जब तक वह ऐसी गलतफहमी में रहेगा, उसकी आध्यात्मिक प्रगति नहीं हो सकती।

यहाँ तक हुआ निषेधात्मक शिक्षा के सम्बन्ध में।

जब हम यह कहते हैं कि 'आध्यात्मिक प्रगति इस प्रकार के व्यक्ति के लिए नहीं है', तब हमारा आशय यह नहीं होता कि कोई ऐसा विशिन्ट व्यक्ति है, जो कभी आध्यात्मिक प्रगति नहीं कर सकता। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है। इननिषेधात्मक उपदेशों में इस तथ्य पर विशेष बल दिया जाता है कि मन की ऐसी अवस्था रहने पर आध्यात्मिक प्रगति नहीं हो सकती। जब मन की वह अवस्था बदलकर अच्छी अवस्था आती है, तब वही व्यक्ति जो कई प्रकार की बाधाओं से पीड़ित था, आश्चर्यजनकरूप से आध्यात्मिक प्रगति करने लगता है। इसी प्रकार पापियों के लिए सन्त बनना सम्भव हुआ है।

तब फिर निषेधात्मक उपदेशों के सम्बन्ध में इतने विस्तार से बताने की क्या आवश्यकता थी? श्रीरामकृष्ण देव एक चुटकुले के माध्यम से उपदेश देते हैं—

किसी समय एक किसान अपने गन्ने के खेत में पानी लाना चाहता था। गाँवों में वे इसे मोट की सहायता से करते हैं। मोट को बार बार चलाकर जलागार से पानी ऊपर खींचा जाता है। फिर पानी जलागार और

खेत के बीच नाली से बहता है। उस किसान ने दिन भर मेहनत करके पानी खींचा। शाम को खेत में जाकर देखने पर वह आश्चर्य विमूढ़ हो गया, क्योंकि खेत पहले जैसा ही सूखा था। ऐसा क्यों हुआ? जाँच-पड़ताल करने पर उसे मालूम पड़ा कि सारा पानी खेत के शुरू में ही बने चूहों के बड़े बड़े बिलों में समा गया है।

ये जो निषेधात्मक उपदेश हैं, वे इन्हीं बिलों से सावधान करते हैं, जो आध्यात्मिक साधना के सारे परिश्रम को व्यर्थ कर डालते हैं। भले ही हम कठोर साधना करें, परन्तु जब तक इन छिद्रों को ठीक से बन्द नहीं कर देंगे, तब तक जीवन आध्यात्मिकता से सिंचित नहीं हो पायगा।

जब आत्म-परीक्षण से हमें ऐसा अनुभव हो कि हम न केवल रुक गये हैं वरन् अवनति की ओर जा रहे हैं, तब उचित होगा कि पहले हम अपने जीवन में इन छिद्रों को ढूँढ़कर बन्द कर दें।

श्रीरामकृष्ण देव द्वारा आध्यात्मिक जीवन के लिए दिया गया यह एक बहुत महत्वपूर्ण और व्यावहारिक पाठ है।

(क्रमशः)

●

धर्म-प्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

अनु० – स्वामी व्योमानन्द

(श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज श्रीरामकृष्ण देव के अन्तरंग शिष्य थे तथा रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के प्रथम अध्यक्ष थे। उनके कुछ उपदेशों का संकलन मूल बँगला ग्रन्थ के रूप में 'उद्बोधन कार्यालय' द्वारा प्रकाशित किया गया है, जिसका धारावाहिक अनुवाद यहाँ पर 'उद्बोधन कार्यालय' के सौजन्य से प्रकाशित किया जा रहा है। ––स०)

स्थान – बेलुड़ मठ

२ फरवरी, १६१६

आज मठ में महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द), वाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द) एवं शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) उपस्थित हैं। भोजन के समय एक साधु ने सूचना दी कि आज चार बजे महाराज के बरामदे में बैठक होगी; महाराज ने उस समय सभी साधु-ब्रह्मचारियों को उपस्थित रहने के लिए कहा है। चार बजे सभी सभा में उपस्थित हुए। एक साधु ने महाराज से प्रश्न किया।

प्रश्न–महाराज, लड़के लोग, Relief Work (राहत-कार्य) नहीं करना चाहते। यह सब काम कैसे चलेगा ?

महाराज–कौन काम नहीं करना चाहता ?

जिन्होंने प्रश्न किया था, उन्होंने एक जन का नाम बतलाया।

महाराज–क्यों रे, तुम लोग काम करना क्यों नहीं चाहते ?

उत्तर– Relief Work (राहत कार्य) में जाने से सारे दिन कठिन परिश्रम करना पड़ता है, इसलिए साधन-भजन

करने की सुविधा नहीं मिलती – समय भी नहीं मिलता।

महाराज–लगातार क्या ऐसी ही मेहनत करनी पड़ती है ?

उत्तर–नहीं महाराज, पहले-पहल ही अधिक काम करना पड़ता है।

महाराज-फिर ऐसा क्यों कहते हो कि समय नहीं मिलता ? देखो बेटे ! तुम लोगों के मुँह से ये सब बातें शोभा नहीं देतीं। तुम लोग साधु-ब्रह्मचारी हो, तुम लोगों मे ब्रह्मचर्य की एक शक्ति है। तुम लोगों को ध्यान-भजन और काम-काज दोनों एक साथ करने होंगे। यह करने पर वह नहीं कर सकता––ये तो गृहस्थों की बातें हैं। मैं तो समझता हूँ कि तुम लोगों की साधन-भजन में विशेष रुचि नहीं है––केवल काम-काज, हल्ला-गुल्ला और गप-शप में ही समय बिता देते हो और मुँह से कहते हो कि ध्यान-भजन के लिए समय नहीं मिलता। Relief Work (राहत कार्य) में पहले–पहल, हो सकता है, कुछ अधिक मेहनत करनी पड़ती हो, पर लगातार तो वैसा नहीं करना पड़ता ? उस समय साधन-भजन क्यों नहीं करते ? तुम लोगों को ऐसी बात करने में लज्जा नहीं आती ? ठाकुर की इच्छा से हम लोगों को कितना काम करना पड़ा है ! साधु होकर हमें उन्होंने वकील, मुंशी के घर तक दौड़ाया है। पर उससे हमारा कुछ अशुभ हुआ है ऐसा तो नहीं मालूम होता। हम लोग जानते हैं कि सब उन्हीं का काम है।

महाराज की बातें सुन सब स्तब्ध हो गये। पूजनीय शरत् महाराज ने उपस्थित सभी लोगों से अपनी असुविधा और कठिनाई बतलाने के लिए कहा। किसी को कुछ न कहते देख महाराज ने एक साधु को लक्ष्य करके पूछा, "तुम्हारी क्या असुविधा है ?"

उत्तर—पहले मुझे लिखने-पढ़ने की असुविधा मालूम होती थी। आजकल भजन में मन अच्छी तरह लगा है, अब कोई असुविधा नहीं है।

अन्य एक दूसरे साधु ने कहा, "मठ में शास्त्र-अध्ययन की उचित व्यवस्था नहीं है। एक पण्डित रखने से अच्छा होगा।"

महाराज—क्यों ? तुम तो शुकुल (स्वामी आत्मानन्द) के पास पढ़ रहे हो। शुकुल तो पण्डित है फिर अच्छा साधु भी है।

* * *

महाराज आसन से उठ खड़े हुए और पुनः कहने लगे,—स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) ने अमेरिका जाने से पूर्व मुझे तथा हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) को जो पत्र आबू पहाड़ से लिखा था, उसकी बातें मेरे मन में आज भी कौंध रही हैं। हरि भाई भी अक्सर उस प्रसंग की चर्चा करते हैं। वह है— 'जगद्धिताय बहुजनसुखाय ही धर्म है, और खुद के लिए जो भी किया जाय, वह सब अधर्म है।' ओफ् ! कितनी अमूल्य बात है, देखो भला ? इसका क्या कोई मूल्य हो

सकता है ?

सुनता हूँ, तुम लोगों में से कोई कोई कहते हो, मिशन के काम-काज साधना में बाधा डालते हैं— Relief Work (राहत कार्य) इत्यादि करनें से आध्यात्मिक प्रगति नहीं होती। यह भी सुनता हूँ कि बाबूराम महाराज और मैं हम दोनों भी वह सब prefer (पसन्द) नहीं करते। तुम लोगों की ये सब धारणाएँ बिल्कुल गलत हैं। हम लोगों का भाव तुम लोग समझ नहीं सकते। तुम लोगों के लिए उचित है—भाव ग्रहण करना। अवश्य, मैं यह बात पुनः पुनः कहता हूँ और अभी भी जोर देकर कहता हूँ कि राहत कार्य आदि जो भी करने जाओ, सुबह और सन्ध्या तथा कर्म के समाप्त होने पर एक बार भगवान् को अवश्य पुकारना—जप-ध्यान करना स्वामीजी के मुख से प्रायः ही सुनता था 'Work and worship' —काम भी करो और जपध्यान भी। अगर किसी विशेष काम के Pressure (आधिक्य) से एक-आध दिन न हो सका, तो वह दूसरी बात है। क्या कोई दिन-रात जप-ध्यान कर सकता है ? इसीलिए उसे निष्काम कर्म करना होगा। यदि न करो, तो नाना प्रकार के बुरे और व्यर्थ विचार मन में आएँगे। उसकी अपेक्षा क्या अच्छे कर्म करना श्रेयस्कर नहीं ? देखोगे, गीता एवं अन्यान्य सभी शास्त्र यही बात जोर देकर कहते हैं। मैं भी स्वयं के अनुभव से यही कहता हूँ।

* * *

तुम लोगों की आँखों के सामने कितना घोर युद्ध (यूरोप में) हो रहा है, क्या देखते नहीं हो ? वे लोग तुच्छ स्वदेश के लिए स्त्री-पुत्र, भोगविलास सब कुछ त्यागकर स्वयं का वलिदान दे रहे हैं, और तुम लोगों ने उससे भी एक उच्च आदर्श के लिए---भगवान्-लाभ के लिए--घर-बार छोड़कर ठाकुर के चरणों में आश्रय लिया है, फिर कर्म करने से जी क्यों चुराते हो ? स्वामीजी हम लोगों से कहते थे, "अरे, यदि सोचो कि बहुजनहिताय एक जन्म वृथा चला गया, तो भी क्या ? जाने कितने जन्म आलस्य में बीत गये ! एक जन्म यदि जगत् के कल्याण में चला गया, तो डर की क्या बात ?" फिर, भय की बात है भी नहीं। शास्त्रों ने कहा है, निष्काम कर्म करने से भगवान् मिलते हैं। गीता कहती है--

"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।"†

"असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः।"‡

गेरुआ कपड़ा पहन हृषीकेश में जा, दो रोटी भिक्षा करके खाने और दो-चार श्लोक कण्ठस्थ करने मात्र से क्या कोई साधु हो जाता है ? देख तो रहा हूँ, तुम लोगों में से जो हृषीकेश गये थे, उनकी कितनी आध्यात्मिक प्रगति हुई है ! कोई तो बीमार पड़कर फिर से मिशन के आश्रय में लौट आया। यह क्यों ? क्या इतना वैराग्य

---

† कर्म के द्वारा ही जनक आदि सिद्धि को प्राप्त हुए।

‡ अनासक्त होकर कर्म करने से परम पुरुष को प्राप्त कर लेता है।

नहीं है कि पेड़ के नीचे पड़े रहें ? मिशन का काम नहीं करूँगा यह कहकर तो भाग गया, और फिर से उसी मिशन की सेवा लेने आया ? दो माह ऋषीकेश, दो माह लक्ष्मण झूला, दो माह कनखल, दो माह उत्तरकाशी, दो माह रामेश्वर—यहाँ अच्छा नहीं लगता इसलिए वहाँ, और वहाँ से फिर तीसरी जगह, इस तरह यदि युवावस्था में घूमते फिरोगे, तो आखिर में आवारा हो जाओगे--जीवन फिर बड़े दुःख से बीतेगा। उन स्थानों में बस दो-चार साधु ही ऐसे मिलते हैं, जिनका संग किया जा सकता है, और बाकी तो सब इसी श्रेणी के हैं। दो श्लोक कण्ठस्थ कर लिया और बस उसी की आवृत्ति किये जा रहा है ! स्वामीजी का इस मठ को बनाने का उद्देश्य ही यह था कि बाद में जो लोग साधु होने आएँ, वे इस खिचाव में न पड़ आदर्श की ओर अग्रसर हो सकें। ऐसा यदि न होता, तब वे तो स्वयं बड़े आनन्द से जीवन बिता दे सकते थे। इतना कष्ट सहकर मठ वगैरह बनाने की फिर आवश्यकता ही क्या थी ?

स्वामीजी ने एक दिन कहा था, "देखो, आजकल जो सब लड़के आएँगे, वे तो दिन-रात ध्यान-भजन लेकर रह सकेंगे नहीं इसीलिए यह सब सेवाकार्य शुरू किया गया है।" यदि कोई दिन और रात ध्यान, भजन, पाठ में बिता सके, तो बड़ी उत्तम बात है। किन्तु व्यवहार में वैसा हो नहीं पाता। बस, आलस्य के फन्दे में पड़ा रहता है। अच्छे कर्म का फल होता ही है—वह जायगा कहाँ ? वह फल

ही तुम्हारी मुक्ति का पथ साफ कर देगा। मैं तो देखता हूँ कि जो लोग हृषीकेश जाकर दो-चार वर्ष बिता आये हैं, उन लोगों की तुलना में उन्होंने कहीं अधिक प्रगति की है, जो एक ही जगह में स्थिर होकर ध्यान-भजन, काम-काज लेकर पड़े रहे हैं। तुम यह अच्छी तरह से जान लो कि जो लोग काम में टालमटोल करेंगे, वे खुद टाल दिये जाएँगे।

●

आचार्य रामानुज-जीवन और दर्शन

ब्रह्मचारी सन्तोष

(गतांक से आगे)

(७)

यतिराज रामानुज श्रीरंगम लौट आये। कह चुके हैं कि उनके शिष्य कुरेश भी बड़े मेधावी और श्रुतिधर थे। एक दिन उन्होंने अपने गुरु से कहा, "भगवन्! मुझे कृपया गीता के शरणागति-महाश्लोक† का गूढ़ रहस्य समझाने की कृपा करें।"

रामानुज ने कहा,—"वत्स! मैंने अपने गुरु से सुना है कि जो अधिकारी साधक एक वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरु की सेवा में रत रहे, उसे ही इस महाश्लोक का अर्थ बताया जा सकता है। अतः तुम एक वर्ष तक व्रतपूर्वक गुरुसेवा में रत रहो।"

गुरु की बात सुन व्याकुल हो कुरेश ने दीनतापूर्वक यतिराज से कहा, "गुरुदेव! जीवन क्षणभंगुर है! मैं एक वर्ष तक जीवित रहूँगा इसका कोई निश्चय नहीं है। आप ही कृपापूर्वक मुझे अधिकारी बना लें और महाश्लोक के रहस्य का ज्ञान देने की कृपा करें।"

शिष्य की कातरता देख यतिराज का हृदय करुणा से भर गया। उन्होंने कुरेश से कहा, "अच्छा, तुम एक महीने तक भिक्षा द्वारा जीवन यापन करो। इससे ही तुम्हारी चित्तशुद्धि हो जायगी तथा तुम्हें एक वर्ष तक की

---

† सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१८।६६॥

गयी गुरुसेवा का फल मिल जायगा।" कुरेश ने वैसा ही किया। एक माह की अवधि समाप्त होने पर रामानुज ने उन्हें महाश्लोक का रहस्य-ज्ञान प्रदान किया।

रामानुज के एक दूसरे शिष्य थे दासरथि। वे भी प्रकाण्ड पण्डित थे। रिश्ते में वे रामानुज के भाई भी होते थे। उन्होंने भी एक दिन रामानुज से गीता के महाश्लोक का ज्ञान प्रदान करने की प्रार्थना की।

यतिराज रामानुज सिद्धगुरु थे। युग-प्रयोजन के अनुसार लोकशिक्षा के लिए ही उनका जन्म हुआ था। एक-एक शिष्य को निमित्त बना उन्होंने लोकशिक्षण का कार्य किया। दासरथि का जन्म उच्च ब्राह्मण-कुल में हुआ था। उनमें पाण्डित्य भी अगाध था। अतः उनके मन में अपनी कुलीनता तथा पाण्डित्य का किंचित् अभिमान भी था। यतिराज की सूक्ष्म दृष्टि से यह बात छिपी न थी। अतः दासरथि द्वारा महाश्लोक का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त करने पर रामानुज ने उनसे कहा, "देखो दासरथि! मेरे शिष्य होने के साथ साथ तुम मेरे भाई भी हो। अतः मैं तुम्हारे गुण-दोषों को ठीक ठीक नहीं देख पाऊँगा। तुम महात्मा गोष्टीपूर्ण के पास जाओ, उनकी सेवा करो और उनसे ही महाश्लोक का अर्थ प्रदान करने की प्रार्थना करो।"

गुरु की आज्ञानुसार दासरथि गोष्टीपूर्ण के पास गये और उनकी सेवा करने लगे। छह महीने बीत जाने के पश्चात् भी गोष्टीपूर्ण ने दासरथि को महाश्लोक का गूढ़

ज्ञान देने का कोई संकेत न दिया। गोष्टीपूर्ण भी सिद्ध महात्मा थे। उन्होंने समझ लिया था कि रामानुज ने इसे मेरे पास इसीलिए भेजा है कि इसके मन में अपनी कुलीनता तथा पाण्डित्य का अभिमान शेष है, और जब तक यह अभिमान बना रहेगा, इसे भक्ति एवं शरणागति की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह सोच गोष्टीपूर्ण के मन में करुणा जागी। उन्होंने दासरथि से कहा,--"दासरथि! तुम मेरे सम्बन्धी हो और तुम्हारा पाण्डित्य अगाध है यह मैं भली भाँति जानता हूं, किन्तु यह निश्चय जान लो कि कुलीनता, विद्वता, धन आदि हीनबुद्धि लोगों में ही अभिमान उत्पन्न करते हैं। विवेकवान् व्यक्ति के मन में इनसे संयम और निरहंकारिता का ही जन्म होता है। इस बात को ठीक ठीक समझ लो और अपने गुरु की ही शरण में जाओ। वे ही तुम्हें यथासमय ज्ञान प्रदान करेंगे।"

गोष्टीपूर्ण के ऐसा कहने पर दासरथि अपने गुरु रामानुज के पास लौट आये और उनसे सन्त गोष्टीपूर्ण ने जो कहा था, वह निवेदन किया। उसी समय रामानुज के गुरु महापूर्ण की पुत्री अतुलाई रामानुज के पास आयीं और उनसे कहा,--"भैया! मैं बड़े दुख में हूं। मुझे पिताजी ने आपके पास भेजा है। ससुराल में मुझे बड़ी दूर के एक तालाब से जल लाना पड़ता है। उसका रास्ता भी सुनसान और लम्बा है। मुझे डर लगता है तथा परिश्रम भी बहुत होता है। फिर मुझे रसोई बनानी पड़ती है, घर के दूसरे काम भी करने पड़ते हैं। मैं बहुत थक जाती हूँ। जब

यह बात मैंने अपनी सास से कही, तो वे बड़ी रुष्ट हुईं और मुझसे कहा, 'अपने पिता के घर से एक रसोइया ब्राह्मण क्यों नहीं ले आती ?' सास की झिड़की सुन मुझे बहुत दुःख हुआ तथा मैं पिताजी के पास गयी। उन्होंने मुझसे कहा कि तुम अपने भाई रामानुज के पास जाओ, वह व्यवस्था कर देगा।"

रामानुज ने स्नेहसिक्त स्वर में अतुलाई से कहा,--"बहिन ! तुम दुखी न होओ। मैं तुम्हारे साथ एक ब्राह्मण भेजता हूँ। वह तुम्हारे सब काम कर दिया करेगा।" यह कह रामानुज ने अपने शिष्य दासरथि की ओर देखा। उन्होंने तुरन्त गुरु का आशय समझ लिया और प्रसन्नतापूर्वक अतुलाई के साथ उसकी ससुराल चले गये। वहाँ वे बड़ी लगन और दक्षता से घर का सारा काम करते, रसोई बनाते, जल भरते। कालचक्र चलता रहा। छः महीने बीत गये। एक वैष्णव विद्वान् उस गाँव में आये हुए थे। उनका प्रवचन चल रहा था। दासरथि भी वहाँ उपस्थित थे। वक्ता ने शास्त्र के कुछ श्लोकों की ऐसी व्याख्या की, जो त्रुटिपूर्ण थी। उस दोषयुक्त व्याख्या को समवेत श्रोताओं ने स्वीकार भी कर लिया। वैष्णव-भक्तों को शास्त्र की ऐसी त्रुटिपूर्ण व्याख्या बतायी जाते देख दासरथि को बड़ा दुख हुआ। उन्होंने नम्रतापूर्वक वक्ता के कथन का प्रतिवाद किया। वक्ता क्रोधित हो उठे और कहा, "अरे मूर्ख ! एक रसोइया भला शास्त्र की बातें क्या जानें ? तू जाकर रसोईघर में अपनी योग्यता दिखा।"

पर इस तिरस्कार और व्यंग्य से दासरथि किंचित् भी दुखी न हुए। उन्होंने शान्तिपूर्वक व्याकरण का आधार लेकर तथा अन्य शास्त्रप्रमाण उद्धृत कर उस अंश की अद्वितीय व्याख्या अत्यन्त सुललित भाषा में कह सुनायी। उनका प्रकाण्ड पाण्डित्य देख वक्ता महोदय हतप्रभ हो गये तथा उनके चरणों में प्रणाम कर अपने द्वारा कहे गये अपशब्दों के लिए क्षमा माँगी। साथ ही उन्होंने पूछा, 'महात्मन् ! आप इतने बड़े विद्वान् होकर रसोइये का कार्य क्यों कर रहे हैं ?"

दासरथि ने अपना परिचय दिया तथा गुरु-आज्ञा से रसोइये का का कार्य करने की बात बतायी। भक्तों को जव यह विदित हुआ कि वे रामानुज के विद्वान् शिष्य दासरथि हैं, तव सभी ने उन्हें प्रणाम किया। तदनन्तर कुछ प्रमुख भक्तगण दल बना यतिराज रामानुज के पास श्रीरंगम गये और आचार्य से उस घटना का वर्णन कर निवेदन किया,—"यतिप्रवर ! आपके शिष्य दासरथि को अहँकार छू तक नहीं गया है। आप कृपापूर्वक उन्हें अपने पास बुला लें। उनसे अब रसोइये का कार्य न करवाएँ।"

यह सुन रामानुज बड़े प्रसन्न हुए। वे स्वयं भक्तों के साथ दासरथि को लेने अतुलाई के घर की ओर चल पड़े। वहाँ पहुँच यतिराज ने अपने निरभिमानी शिष्य को हृदय से लगाकर अनेक आशीर्वाद दिया तथा उसे अपने साथ श्रीरंगम लिवा लाये। मठ में लौट आचार्य ने उन्हें भी शरणागति का रहस्य बताया और इस प्रकार

दासरथि का जीवन धन्य हुआ ।

शिष्यों को शिक्षा देने के साथ साथ यतिराज स्वयं भी अपने गुरु तथा गुरु के गुरु-भाइयों से तमिलवेद आदि विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन करते रहे ।

एक बार श्रीरंगम में गरुड़ोत्सव हो रहा था। भगवान् की डोली निकली थी । सहस्त्रों नर-नारी डोली के साथ चल रहे थे । यतिराज रामानुज भी भगवान् की शोभायात्रा में शिष्यों के साथ चल रहे थे । तभी उनकी दृष्टि एक हृष्ट-पुष्ट दृढ़ शरीर वाले युवक पर पड़ी । उन्होंने देखा कि इन हजारों व्यक्तियों के सामने वह युवक एक युवती को छाता ओढ़ाये चल रहा है तथा उसे पंखा झल रहा है । जनसमूह तो भगवान् नारायण की डोली के दर्शन कर रहा था, किन्तु यह युवक एकटक उस युवती के मुँह की ओर ही देख रहा था । यतिराज ने यह देख अपने एक शिष्य को भेजकर उसे अपने पास बुलवाया । शिष्य जब युवक के पास गया, तो उसने देखा कि युवक इतनी तन्मयता से युवती की ओर देख रहा है कि उसे अपने आसपास की परिस्थिति का भान ही नहीं है । युवती की ओर से उसका ध्यान हटाने के लिए शिष्य को कई बार पुकारना पड़ा, तब कही युवक ने उसकी ओर देखा । यतिराज उसे बुला रहे हैं यह जान उसे आश्चर्य और आनन्द हुआ । जाकर उसने रामानुज के चरणों में प्रणाम किया और हाथ जोड़कर खड़ा हो गया । रामानुज ने उससे पूछा, "युवक ! इतनी भीड़ के बीच तुम लज्जा त्यागकर

उस युवती को छाता ओढ़ाये पंखा झल रहे हो ! यही नहीं, सब लोग तो श्रीभगवान् की झांकी के दर्शन कर रहे हैं और तुम हो कि उस युवती का ही मुँह देख रहे हो ! बताओ, इसका क्या कारण है ?"

युवक ने विनयपूर्वक कहा, "महाराज ! उस युवती की आँखें इतनी सुन्दर हैं कि आज तक मैंने उससे सुन्दर अन्य कोई वस्तु नहीं देखी । मेरा मन उसकी आँखों पर मुग्ध है । मैं उसे देखे बिना रह नहीं सकता । इसीलिए मैं सदैव उसकी आँखों की ओर देखता रहता हूँ तथा उसकी सेवा करता हूँ ।"

रामानुज ने कहा, "अच्छा, यदि मैं तुम्हें उससे भी सुन्दर आँखें दिखला दूँ, तो क्या तुम उसके प्रति आसक्ति त्याग दोगे ?"

युवक ने उत्तर दिया, "महाराज ! यदि आप मुझे उससे भी सुन्दर आँखें दिखला सकें, तो मैं अवश्य ही इन आँखों के प्रति आसक्ति त्याग दूँगा ।"

यतिराज ने उसे दूसरे दिन प्रातःकाल मठ में बुलाया। ठीक समय पर युवक मठ में आकर उपस्थित हो गया। मंगल आरती का समय हो रहा था। रामानुज युवक को साथ ले मन्दिर की ओर चले । जब वे लोग मन्दिर में पहुंचे, तब आरती के घण्टे-शंख आदि तालबद्ध ढंग से बज रहे थे । यतिराज युवक को गर्भ-गृह के पास ले गये । पुजारी अनन्तशायी भगवान् विष्णु की आरती कर रहे थे । आरती के प्रदीप का आलोक विग्रह के मुख कमल पर पड़

रहा था। रामानुज ने युवक का हाथ पकड़ा और उससे कहा, "भगवान् के इन दिव्य नयनों के दर्शन करो !"

यतिप्रवर सिद्ध गुरु रामानुज के स्पर्श एवं आह्वान से युवक की आध्यात्मिक चेतना जाग उठी। उसे भगवान् नारायण के दिव्य नेत्रों के दर्शन हुए। कमलापति भगवान् विष्णु के नेत्र ! सृष्टि का समस्त सौन्दर्य जिन नेत्रों के कटाक्ष मात्र से उत्पन्न हुआ है, सौन्दर्य के आदि स्रोत उन नेत्रों को देख युवक विह्वल हो उठा। उसका हृदय दैवी आनन्द से भर गया। आँखों से अश्रुओं की धारा बह चली। उसका मन अनन्त के राज्य में उठ भावसमाधि में डूब गया। कुछ देर पश्चात् जब उसका मन सामान्य अवस्था में आया, तो उसने देखा कि यतिराज रामानुज उसके पास ही खड़े हैं तथा करुणामयी स्मित दृष्टि से उसकी ओर देख रहे हैं। युवक उनके चरणों में गिर पड़ा और कातर भाव से बोला, "प्रभु ! आपने मोह के गहन अन्धकार से निकालकर मुझे भगवान् नारायण के दिव्य नेत्रों का दैवी आलोक प्रदान किया है। आप मेरे जीवनदाता हैं। अब कृपापूर्वक मुझे अपने चरणों में स्थान दीजिये।"

रामानुज ने उस पर कृपा की और दीक्षा प्रदान कर उसे अपना शिष्य बना लिया। इस युवक का नाम धनुर्दास था। वह शूद्र जाति में उत्पन्न हुआ था तथा मल्लविद्या में निष्णात था।

धनुदास श्रीरंगम मठ के पास ही अपनी पत्नी के साथ रहता था। वह सदैव अपने गुरु की सेवा में तत्पर

रहता। रामानुज उससे व्यक्तिगत सेवाएँ भी ग्रहण कर लेते। उनके ब्राह्मण-शिष्यों को गुरु का यह व्यवहार बुरा लगता। एक दिन कुछ ब्राह्मण-शिष्यों ने यतिराज से यह बात कही। यतिराज ने उन लोगों की बातें सुन तो लीं, पर कुछ कहा नहीं। कुछ दिनों पश्चात् एक रात यतिराज उठे। उन्होंने देखा कि उनके ब्राह्मण-शिष्यगण सन्ध्या स्नान कर कपड़े सूखने के लिए डाल रखे हैं। उन्होंने प्रत्येक वस्त्र में से एक एक कौपीन के लायक कपड़ा फाड़ लिया और लौटकर पुनः सो गये। प्रातःकाल यतिराज ने देखा कि स्नान करके आये हुए उनके शिष्यगण आपस में लड़ रहे हैं तथा एक दूसरे को भला-बुरा कह रहे हैं। बड़ा कोलाहल मचा हुआ है। अन्ततः स्वयं आचार्य को वहाँ जाकर उनके झगड़े शान्त करने पड़े।

सन्ध्या समय रामानुज ने अपने ब्राह्मण-शिष्यों को बुलाया और कहा, "आज रात्रि में मैं धनुर्दास को यहाँ देर तक रोक रखूँगा। तुम लोग दबे पाँव जाकर उसके घर से उसकी पत्नी के गहने चुरा लाना। जब तुम लोग लौट आओ, तब मुझे संकेत कर देना। मैं धनुर्दास को घर जाने को कह दूँगा।"

सन्ध्या से थोड़ी देर पश्चात् धनुर्दास आये। नियमानुसार गुरुसेवा का काम किया और गुरु के चरणों के समीप बैठ गये। यतिराज उस दिन धनुर्दास को विभिन्न प्रकार के उपदेश देते रहे। रात अधिक हो चली। इधर ब्राह्मण-शिष्यगण दल बनाकर धनुर्दास के घर गये। पति

की प्रतीक्षा में उनकी पत्नी ने द्वार बन्द नहीं किये थे। अतः वे लोग सीधे घर के भीतर पहुँच गये। दीपक के मन्द प्रकाश में उन्होंने देखा कि धनुर्दास की धर्मपत्नी मूल्यवान् गहनों से लदी करवट ले सो रही हैं। ब्राह्मणों ने सावधानीपूर्वक उनके शरीर से एक ओर के गहने उतार लिये। उसी समय धनुर्दास की पत्नी ने करवट बदली। उसे जाग गयी जान उतने ही गहने ले ब्राह्मणगण वहाँ से भाग खड़े हुए। मठ पहुँचकर उन्होंने आचार्य रामानुज को अपने आने का संकेत दे दिया। यतिराज ने धनुर्दास से कहा, "धनुर्दास! अब तुम घर जाओ। रात्रि अधिक हो गयी है।" धनुर्दास के निकलते ही उन्होंने ब्राह्मण-शिष्यों को बुलाया और कहा, "तुम लोग दबे पाँव धनुर्दास के पीछे पीछे उसके घर जाओ और वे पति-पत्नी आपस में क्या चर्चा करते हैं यह आकर मुझे बताओ।"

धनुर्दास घर पहुँचे और उनके पीछे पीछे दबे पांव पहुँचे ये ब्राह्मणगण। दीवाल की आड़ से ये लोग धनुर्दास दम्पति की बातें सुनने लगे। पत्नी को आधे अंगों में गहने पहने हुए देख धनुर्दास ने आश्चर्य से पूछा, "तुमने आज यह कैसा विचित्र श्रृंगार कर रखा है? आधे अंगों में आभूषण और आधे अंग खाली?'

पत्नी ने खिन्न स्वर में कहा, "नाथ! क्या कहूँ, आपकी प्रतीक्षा में लेटी लेटी भगवान् नारायण के नाम का जप कर रही थी। आप आये नही थे इसलिए द्वार खुला ही रख छोड़ा था। इतने में क्या देखती हूँ कि कुछ

ब्राह्मणदेवता घर के भीतर आये। मैं आँखें बन्द किये सोच ही रही थी कि ये लोग रात्रि में छुपे छुपे हमारे घर क्यों आये हैं, इतने में उनमें से एक ने कहा, यह सो रही है। इसके गहने उतार कर शीघ्र भाग चलो।' मैं समझ गयी कि वे लोग अभावग्रस्त होंगे इसलिए उन्हें गहनों की आवश्यकता है। अतः सोने का बहाना कर मैं लेटी रही। उन लोगों ने धीरे धीरे मेरे एक अंग के गहने उतार लिये। तब मैंने यह सोचकर कि दूसरी ओर के गहने भी वे लोग उतार लें, करवट बदल ली। किन्तु बेचारे ब्राह्मणगण यह सोचकर कि मैं जाग गयी हूँ आधे गहने लेकर ही भाग गये।"

धनुर्दास ने पत्नी की भर्त्सना करते हुए कहा,--"छिः छिः! अभी भी तुम्हारे मन में यह अभिमान है कि तुम इन गहनों और सम्पत्ति की स्वामिनी हो! तुम्हारे मन में उन ब्राह्मणों को 'अपने' गहने देने का अभिमान था। भगवान् ने ही कृपापूर्वक उन ब्राह्मणों को हम अभागों के घर भेजा था। प्रभु अपनी सम्पत्ति उन्हें देना चाहते थे। अपने क्षुद्र अहंकार से तुमने उसमें बाधा डाल दी। आओ! प्रभु से प्रार्थना करें कि वे हमारा अहंकार दूर कर दें।"

धनुर्दास-दम्पति की बात सुन ब्राह्मणगण अवाक् हो गये। मठ लौट उन्होंने यतिराज को सारी बातें कह सुनायीं। यतिराज ने अपने सभी ब्राह्मण-शिष्यों को बुलाया और कहा, "मैंने ही उस दिन तुम्हारे वस्त्रों में से एक एक कौपीन का कपड़ा फाड़ लिया था। तुम लोग कपड़ों के उन टुकड़ों के लिए शिष्टाचार त्याग आपस में लड़ रहे

थे। तुम लोगों ने सारा शास्त्रज्ञान और उपदेश भुला दिया था। तुम लोग ब्राह्मण हो, अपरिग्रह और त्याग तुम्हारा स्वधर्म है। तव तुम्हारी यह दशा थी! और शूद्र जाति में उत्पन्न वह धनुर्दास मल्ल त्याग और सेवा की मूर्ति है! अब तुम्हीं लोग बताओ कि तुममें श्रेष्ठ कौन है? शूद्र धनुर्दास या तुम ब्राह्मणगण?"

शिष्यों का मस्तक लज्जा से झुक गया।

कुछ क्षण शान्त रह आचार्य रामानुज ने पुनः कहा, "वत्सगण! सुनो! किसी के महान् होने में जाति कारण नहीं होती। व्यक्ति अपने गुणों से महान् होता है!"†

(८)

समय बीतता गया। एक दिन रामानुज अपने शिष्यों को महर्षि यमुनाचार्य के विषय में बता रहे थे। तभी उन्हें स्मरण हो आया कि उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर श्रीभाष्य की रचना करने का वचन दिया है। श्रीभाष्य की अधिकृत रचना के लिए 'बोधायनवृत्ति' को देखना आवश्यक था। किन्तु दक्षिण देश में वह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था। रामानुज ने विद्वानों से सुना था कि काश्मीर के शारदापीठ में वह ग्रन्थ उपलब्ध है। उन्होंने काश्मीर जाने का निश्चय किया और अपने मेधावी शिष्य कुरेश को ले यात्रा पर निकल पड़े। कई महीने चलकर वे लोग काश्मीर पहुँचे। काश्मीर के पण्डितगण इन दक्षिणात्य विद्वानों की विद्वत्ता से बड़े

---

†न जातिः कारणं लोके गुणाः कल्याणहेतवः।

ही प्रभावित हुए ।

शारदापीठ में 'बोधायनवृत्ति' की एक ही प्रति थी। बड़ी कठिनाई से किसी प्रकार वह ग्रन्थ प्राप्त कर रामानुज और कुरेश वापस लौटे । वे लोग लगभग एक महीने की यात्रा कर पाये थे कि उनके पीछे पीछे काश्मीर के कुछ पण्डित आ धमके तथा उनसे ग्रन्थ छीनकर ले गये। रामानुज बड़े उदास हो गये। गुरु को उदास देख कुरेश ने कहा,—"गुरुदेव ! आप दुखी न हों। वे लोग ग्रन्थ छीन ले गये, तो क्या हुआ ? प्रतिदिन यात्रा के पश्चात् रात्रि में जब आप विश्राम करते होते, उस समय मैं उस ग्रन्थ का अध्ययन किया करता। गत रात्रि ही मैंने उस ग्रन्थ को समाप्त किया है। वह पूरा ग्रन्थ मुझे कण्ठस्थ हो गया है। आपकी आज्ञा हो, तो हम कुछ दिन इसी स्थान पर ठहर जायँ और मैं वह सम्पूर्ण ग्रन्थ लिख लूँ।"

रामानुज ने कुरेश को हृदय से लगा लिया। वे लोग उसी स्थान पर रुक गये। कुरेश ने शीघ्र ही अपनी अद्भुत स्मृति के आधार पर उस ग्रन्थ को लिख लिया तथा वे दोनों श्रीरंगम लौट आये।

श्रीरंगम पहुँचकर रामानुज ने कुरेश से कहा, "वत्स ! मैं ब्रह्मसूत्र पर भाष्य बोलता जाऊँगा और तुम लिखते जाना। जहाँ तुम्हें मेरे द्वारा प्रस्तुत तर्क उचित न लगे वहाँ तुम लिखना बन्द कर चुपचाप बैठ जाना। उससे मैं समझ जाऊँगा कि मेरा तर्क उपयुक्त नहीं है। मैं उस अंश पर पुनर्विचार कर तब तुमसे लिखवाऊँगा।" कहा जाता है कि

पूरे श्रीभाष्य के लेखन में कुरेश केवल एक बार रुके थे। इस प्रकार ब्रह्मसूत्र पर प्रसिद्ध श्रीभाष्य की रचना हुई।

श्रीभाष्य, गीताभाष्य वेदार्थसार-संग्रह आदि ग्रन्थों की रचना समाप्त कर अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए आचार्य रामानुज ने अपने शिष्यों के साथ सम्पूर्ण भारतवर्ष की यात्रा की। जहाँ जहाँ यतिराज गये, वहाँ विद्वानों की सभा हुई। उनसे शास्त्रार्थ हुए। रामानुज के दिव्य आध्यात्मिक तेज तथा अद्वितीय प्रतिभा से सभी लोग प्रभावित हुए। अनेक विद्वानों और पण्डितों ने उनके मत को स्वीकार कर लिया किन्तु रामानुज की यह दिग्विजय-यात्रा सहज न थी। कई स्थानों पर उन्हें घोर विरोध का भी सामना करना पड़ा। उन पर तांत्रिक मारण आदि के भी प्रयोग किये गये। पर अपने इष्ट देव की कृपा से सब संकटों को पार कर वे विजयी हो श्रीरंगम लौटे।

(९)

रामानुज जब साठ वर्ष के थे, तब कुरेश ने अपनी पार्थिव देह त्याग दी। इस समय तक श्रीभाष्य-रचना, दिग्विजय आदि कार्य समाप्त हो चुके थे। रामानुज श्रीरंगम मठ में लौट आये थे। इस घटना के पश्चात् वे इस धराधाम में साठ वर्ष और रहे, किन्तु फिर कभी श्रीरंगम के बाहर नहीं गये।

उनकी आयु का एकसौ-बीसवाँ वर्ष था। एक दिन रामानुज श्रीरंगम के मन्दिर में गये और भगवान् विष्णु से

कहा, "प्रभो! शास्त्रों में मनुष्य की जो परम आयु कही गयी है, मैं उससे भी बीस वर्ष अधिक जी चुका हूँ। अब मुझे आज्ञा दीजिए कि इस नश्वर देह को त्याग आपके श्रीचरणों में आ जाऊँ।" भक्त का कातर आग्रह सुन भगवान् ने उसे देहत्याग की अनुमति दे दी। यतिराज मठ में लौट आये। अन्तर्मुख और संसार के प्रति उदासीन। शिष्यगण यतिराज का यह भाव देख भयभीत हो उठे। उनमें से कुछ प्रमुख शिष्यों ने प्रार्थना, अनुनय, विनय आदि के द्वारा उनके मन को सामान्य भूमि पर लाने का प्रयास किया। सामान्य भूमि पर आकर यतिराज ने शिष्यों की ओर देखा और कहा,—"वत्सगण! मैंने भगवान् विष्णु से देह त्यागने की अनुमति प्राप्त कर ली है। अब मैं इस जर्जर शरीर को छोड़ दूँगा।"

आचार्य की बात सुन शिष्यगण व्याकुल हो उठे। कई तो विलाप करने लगे। उन्हें व्याकुल तथा विलाप करते देख रामानुज ने उन्हें समझाया और सान्त्वना दी। उनके जीवन के लिए अन्तिम उपदेश दिये।

कुछ प्रमुख शिष्यों ने निवेदन किया, "गुरुदेव! आपके देहत्याग के पश्चात् हम किसके दर्शन कर मन को शान्त कर शक्ति प्राप्त करेंगे?"

शिष्यों की भावनाओं को देख यतिराज ने उनसे कहा, "तुम लोग शीघ्र ही मेरी एक प्रतिमा बनवा लो। देहत्याग के पूर्व मैं स्वयं ही उसमें प्राणप्रतिष्ठा कर जाऊँगा। तुम लोग उसे ही मेरा स्वरूप समझकर साधना में लगे रहना।"

चतुर शिल्पियों को बुलाकर तीन ही दिन में यतिराज की प्रतिमा बनवा दी गयी। कावेरी के पवित्र जल में स्नान करा उसे एक पीठ पर आसीन कराया गया। यतिराज ने अपने हाथों उस प्रस्तर प्रतिमा की विधिवत् प्राण-प्रतिष्ठा की और शिष्यों से कहा,––"आज से मैं इस प्रतिमा में निवास करूँगा। तुम लोग इसे ही गुरुरूप में स्वीकार करना।"

इतना कह यतिराज ने अपने प्रिय शिष्य और सखा गोविन्द की गोद में अपना सिर रख दिया तथा पैरों को एक अन्य शिष्य आन्ध्रपूर्ण की गोद में रखा। उनके गुरु की पवित्र खड़ाऊँ उनके सामने रखी गयीं। उनकी ओर एकाग्र दृष्टि से देखते हुए माघ शुक्ल दशमी, शनिवार, १०५९ शकाब्द तदनुसार ११३७ ईस्वी मध्याह्न को रामानुज ने नश्वर देह त्यागकर शाश्वत वैकुण्ठधाम में प्रवेश किया।

(क्रमशः)

•

साधु-संग कैसा है, जानते हो?––जैसा चाँवल का धोया हुआ जल। जिसे अत्यन्त नशा चढ़ा हो, उसे यदि चावल का धोया हुआ पानी पिला दिया जाय, तो नशा उतर जाता है। इसी प्रकार इस संसार रूपी मद में जो मत्त हो रहे हैं, उनका नशा छुड़ाने के लिए एकमात्र उपाय साधु-संग ही है।

—श्रीरामकृष्ण परमहंस

भरत एक कुशल शल्य-चिकित्सक

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

बाली और सहस्रार्जुन रावण को हरा देते हैं, पर वे रावणत्व को नहीं हरा पाते। यहाँ तक कि परशुराम, जिन्होंने सहस्रार्जुन को हराया, रावणत्व को दूर नहीं कर पाते। रावणत्व का नाश भगवान् राम के द्वारा ही होता है। क्यों ? परशुराम क्षत्रियों का नाश करते करते फरसु-राम ही हो गये थे। उन्हें अपने फरसे से इतना मोह था कि सदा उसे अपने साथ ही रखते। वैसे तो भगवान् राम भी अपना नाम धनुषराम रख सकते थे, क्योंकि वे भी सदा धनुष अपने साथ रखते थे। पर वे धनुषराम नहीं हुए। यही दोनों में सूक्ष्म अन्तर था। परशुराम को फरसा इतना प्रिय था कि उसके बिना उन्हें अपना नाम ही सार्थक प्रतीत नहीं होता था। भगवान् राम ने लंका-काण्ड में जहाँ 'धर्मरथ' का वर्णन किया है, वहाँ वे फरसे का भी वर्णन करते हैं और धनुष का भी। फरसे का वर्णन करते हुए कहते हैं—

दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। ६/७९/८

—'दान फरसा है।' और धनुष क्या है ?

बर बिग्यान कठिन कोदंडा। ६/७९/८

—'विज्ञान धनुष है।' यह फरसा परशुराम का शस्त्र था, और वह किसके विरुद्ध प्रयुक्त हुआ ? —सहस्रार्जुन के विरुद्ध। सहस्रार्जन है मूर्तिमान लोभ का प्रतीक।

अपने हजारों हाथों से कर्म करके वह अपने लिए सारे पदार्थ इकट्ठा कर लेना चाहता है। वह यमदग्नि की कामधेनु को हथियाना चाहता है। यह एक विचित्र बात है कि संसार के जितने लोभी हैं, सभी कामधेनु को पाना चाहते हैं। पर कामधेनु जब भी रहती है, तो महात्माओं के पास ही, कभी किसी लोभी के पास नहीं रहती। लोभी लोग इसके लिए झगड़ा जरूर करते हैं। पुराणों में दो झगड़ों का संकेत मिलता है। और ये झगड़ा करनेवाले दोनों ही राजा है--एक विश्वामित्र और दूसरे सहस्रार्जुन। विश्वामित्र जाते हैं वसिष्ठ के आश्रम में। वहाँ कामधेनु का चमत्कार देखते हैं। राजाओं के प्रासादों की शोभा बढ़ानेवाली वस्तु मुनि के यहाँ कैसे ? वे मुनि से कामधेनु देने का आग्रह करते हैं और जब मुनि वसिष्ठ देने में आनाकानी करते हैं, तो बलात् छीनने की कोशिश करते हैं। परिणाम यह होता है कि विश्वामित्र वसिष्ठ के ब्रह्मतेज के सामने टिक नहीं पाते, हार जाते हैं। और दूसरी ओर, जब सहस्रार्जुन यमदग्नि से काम-धेनु लेने जाता है, तो यमदग्नि का सिर काट डालता है और कामधेनु छीन ले जाता है। परिणाम क्या होता है ? एक ही घटना की दो प्रतिक्रियाएँ हुईं। विश्वामित्र को लगा कि इस क्षात्रतेज को धिक्कार है, जिसके कारण आज मुझे एक ब्राह्मण से हारना पड़ा। मै स्वयं ब्राह्मण बनूँगा और ब्राह्मण बनकर बदला लूँगा। उन्होंनें हिंसा छोड़ दी और चले ब्राह्मण बननें। इससे उल्टी प्रतिक्रिया

परशुराम के मन में हुई। जब एक क्षत्रिय ने उनके पिता यमदग्नि का सिर काट डाला, तो उन्हें लगा--इस ब्राह्मणत्व से क्या होगा ? मैं शस्त्र उठाऊँगा। हिंसा को अपनाऊँगा। क्षत्रियों को दण्ड दूँगा। एक ही घटना के द्वारा एक हिंसक से अहिंसक बन गया और दूसरा अहिंसक से हिंसक। पर एक घटना के प्रतिक्रियास्वरूप हिंसा या अहिंसा को श्रेष्ठ मान लेना अधूरी प्रक्रिया है। यह एक भ्रम है। दोनों के इस भ्रम का निवारण भगवान् राम के पास आकर होता है, जो कि 'रामचरितमानस' के केन्द्र विन्दु हैं। सत्य तो यह है कि पूर्णता तभी सम्पादित होगी, जब अन्तःकरण में अहिंसा हो और आवश्यकता पड़ने पर हाथ में शस्त्र। इसी का प्रतीकात्मक स्वरूप हमें भगवान् राम के चरित्र में मिलता है और यही विश्वामित्र और परशुराम के भ्रम का नाश भी करता है। किस प्रकार ?

विश्वामित्र वसिष्ठ से हारकर ब्राह्मणत्व प्राप्त करने की चेष्टा में सफल होते हैं। वे यज्ञ करने लगते हैं। यज्ञों में राक्षसों ने वाधा देना शुरू किया। वे चिन्तित हुए, सोचने लगे--क्या करूँ ? शस्त्र छोड़कर मैंने ब्राह्मणतत्व स्वीकार किया। अव इन राक्षसों का वध कैसे हो ? जब उन्होंने नेत्र मूँदकर चिन्तन किया, तो विचार कौंधा--

हरि विनु मरहिं न निसिचर पापी। १/२०५/५

--'विना भगवान् के राक्षसों का वध नहीं होगा।' पहले भगवान् को ढूँढ़ना पड़ेगा, तभी यज्ञ सम्पादित हो सकेगा। पर भगवान् हैं कहाँ ? जव उन्होंने पुनः आँखें बन्द कर

चिन्तन किया, तो चौंक पड़े। उन्हें दिखायी दिया कि भगवान् तो दशरथ के घर में हैं। वे घबरा उठे--मैंने जीवन भर साधना कर क्षत्रियत्व से ब्राह्मणत्व प्राप्त किया और आज मुझे क्षत्रिय के ही घर जाना पड़ रहा है! यदि यह पहले मालूम होता, तो इतना व्यर्थ प्रयास क्यों करता ? बड़ी समस्या आ गयी। क्षत्रिय से ब्राह्मण बने और जाना पड़ा क्षत्रिय के ही घर। पर प्रभु का व्यंग्य तो उससे भी बड़ा था--तुम्हें केवल क्षत्रिय के घर ही नहीं जाना है बल्कि उस क्षत्रिय के घर जाना है, जिसके पुरोहित वसिष्ठ हैं, जिनसे तुम्हारा सदा का झगड़ा है। प्रभु का अभिप्राय यह था--राग-द्वेष को छोड़ो। ब्राह्मणत्व से जो राग है और वसिष्ठ से जो द्वेष है, उसका जब परित्याग करोगे, तब मुझको पाओगे, अन्यथा मुझे पाने का कोई दूसरा उपाय नहीं। विश्वामित्र ने तुरन्त निर्णय लिया। भगवान् जहाँ भी मिलेंगे, हम वहीं जायेंगे। और वे गये राजा दशरथ के यहाँ। वहाँ उन्हीं वसिष्ठ की सहायता से उन्होंने भगवान् को पाया, जिनसे उनका सदा का संघर्ष था। तब उनका कष्ट दूर हुआ।

और परशुराम ने क्या किया ? उन्होंने समझ लिया कि क्षत्रिय बड़े अत्याचारी हैं, मैं उन्हें दण्ड दूँगा। उन्होंने फरसा हाथ में लिया और लगे क्षत्रियों का संहार करने। फरसा तो दान का प्रतीक है। लोभ पर विजय प्राप्त करने के लिए दान करना चाहिए। जिस प्रकार फरसा वस्तु को काट डालता है, दान भी लोभ का नाश कर देता है।

समाज से लोभ को दूर करने के लिए दान की आवश्यकता है। 'रामचरितमानस' में दान की बड़ी महिमा कही गई है—

फल भारन नमि बिटप सब रहे भूमि निअराइ।
पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ॥३/४०

—'फल के भार से झुक सारे वृक्ष जैसे पृथ्वी के निकट आ जाते हैं, वैसे ही परोपकारी व्यक्ति धन-सम्पत्ति पाकर विनय से झुक जाते हैं।' गोस्वामीजी ने दो बातें कहीं—एक तो यह कि वृक्ष फलों के भार से झुक जाते हैं और दूसरी—परोपकारी पुरुष सम्पत्ति पाकर झुक जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि वृक्ष का फल भार है अथवा सम्पत्ति ? दान भार भी हो सकता है और सम्पत्ति भी। गोस्वामीजी सावधान करते हुए कहते हैं—दानी के जीवन में एक वहुत वड़ा डर है, वह यह कि यदि दान देने के बाद उसके मन में यह बात आयी कि मैं दानी हूँ, तो लोभ भले दूर हो जाय, अहंकार की जीत हो जायगी। यह समस्या अनेक वार आती है। परशुरामजी की यही दशा थी। जनक की यज्ञशाला में परशुराम के सामने राम और लक्ष्मण खड़े थे। सारी क्षत्रियजाति को मिटाने का दावा करने-वाले परशुराम और उनके सामने मुसकराते हुए दो क्षत्रिय बालक ! परशुराम क्रुद्ध हो कहते हैं—अरे राजा के लड़के ! तू जानता नहीं कि मैं कौन हूँ ? देख, मेरे फरसे की ओर देख—

परसु बिलोकु महीपकुमारा। १/२७१/८

लक्ष्मणजी ने कहा—मैं तो आपको भृगुवंशी समझ आपके

जनेऊ की ओर देख रहा था--

भृगुसुत समुझि जनेउ बिलोकी। १/२७२/५

--तो महाराज, मैं आपका फरसा देखूं कि जनेऊ? मुझे तो आपका जनेऊ देखना पसन्द है और आप मुझे फरसा दिखाते हैं।

अब यहाँ जीत किसकी हुई? क्षत्रिय की या ब्राह्मण की? लक्ष्मण जनेऊ देखना चाहते हैं, पर परशुराम दिखाते हैं फरसा। क्षत्रियों को मिटाने के बाद परशुराम फरसे के इतने प्रेमी हो गये थे कि उन्होंने जनेऊ दिखाना ही बन्द कर दिया, अपना फरसा ही दिखाते रहे। इससे तो यही मानना पड़ेगा कि जीत क्षत्रियत्व की ही हुई। यहाँ तक कि, जब भगवान् राम उनसे बार बार कहते हैं–आप तो ब्राह्मण हैं, पूज्य हैं, तो वे क्रुद्ध हो बोल उठते हैं--

बोलसि निदरि बिप्र के भोरें। १/२८२/५

--ब्राह्मण के धोखे में मेरा निरादर करके बोलता है? मुझे ब्राह्मण समझता है? यह सुन भगवान् को हँसी आ जाती है। वे बोल उठते हैं--महाराज, बड़ी अनोखी बात है। मैं समझ नहीं पा रहा कि कौन जीता और कौन हारा। क्षत्रियों को आपने हराया और ब्राह्मण शब्द आपको बुरा लग रहा है। आप चाहते हैं कि कोई आपको ब्राह्मण न कहे, वीर कहे। और इसीलिए आप सबका ध्यान अपने फरसे की ओर आकर्षित करना चाहते हैं। आपने दान तो दिया, पर दान देने के बाद यह भी कह दिया कि इसी फरसे से राजाओं को काट-काटकर मैंने

समरयज्ञ में बलि दी है। ऐसे करोड़ों जपयुक्त यज्ञ मैंने किये——

मैं एहिं परसु काटि बलि दीन्हें।
समर जग्य जप कोटिन्ह कीन्हें ॥ १/२८२/४

——अर्थात्, आपने अपने दान का प्रचार भी कर दिया।

एक वहुत वड़ा अन्तर था, भगवान् राम और परशुराम में। भगवान् राम बाहर से सगुण थे, पर भीतर से अगुण। कोई गुण उन पर अपना प्रभाव नहीं डाल पाता था पर परशुराम भीतर और बाहर दोनों से सगुण हो चुके थे। सारा संसार भगवान् राम को सगुण कहता, पर वे स्वयं अपने को अगुण ही मानते। जो व्यक्ति व्यवहार में सगुण रहे और मन में अगुण, उसी का व्यवहार यथार्थ होता है। दृष्टान्त ले लें——एक व्यक्ति रंगमंच पर हरिश्चन्द्र का अभिनय करता है। नाटक में सर्वस्व का दान कर देता है। नाटक समाप्त होने पर दूसरे दिन एक दूसरा व्यक्ति उससे मिलने आता है और उसे कमीज-पैण्ट पहने देख आश्चर्य से पूछ उठता है–"हरिश्चन्द्र कहाँ है?"

"मैं तो हूँ हरिश्चन्द्र।"

"तुम कैसे हरिश्चन्द्र हो वह हरिश्चन्द्र तो मुकुट लगाये था, राजसी कपड़े पहने था।"

"अरे भाई, मैं ही वह हरिश्चन्द्र हूँ।"

"अच्छा, उस हरिश्चन्द्र ने सर्वस्व का दान कर दिया था, तुम दस-पन्द्रह हजार रुपये ही दे दो।"

अव यदि ये हरिश्चन्द्र महाशय अपनी दानशीलता

दिखाने के लिए दस-पन्द्रह हजार रुपये दे देते हैं, तो अपना अनर्थ ही कर बैठेंगे। उनका अभिनय ठीक नहीं होगा। यदि वे कुशल अभिनेता होते, तो यह पूछने पर कि हरिश्चन्द्र कहाँ हैं, तुरन्त कह देते--"भई, वे तो रात्रि के १०॥ बजे चले गये।"

"अब कब लौटकर आयेंगे ?"

"शायद कभी एकाध बार फिर आएँ।"

तात्पर्य यह कि यदि फिर नाटक हुआ, तभी हरिश्चन्द्र लौटेंगे, नहीं तो नहीं। ऐसा उत्तर देनेवाला व्यक्ति ही ठीक ठीक अभिनय को निभा सकता है। तात्पर्य यह है कि ठीक ठीक गुणी व्यक्ति वह है, जो केवल उसी काल तक गुण को धारण करता है, जब तक क्रिया चल रही है, उसके बाद नहीं। किन्तु जो क्रिया की समाप्ति के बाद भी अपने को गुणी दिखाते फिरे वह गुणी नहीं, वस्तुतः वह अहंकार के वशीभूत है। परशुरामजी की यही दशा है। एक अवगुण के विनाश के लिए उन्होंने गुण को धारण किया, पर अवगुण के विनाश के बाद भी गुण का परित्याग नहीं किया, उसे बनाये रखा। इसीलिए वे अवतार होते हुए भी अधूरे हैं। भगवान् राम पूर्णावतार हैं। उनमें गुणों का प्रभाव नहीं। यही भगवान् राम और परशुराम में अन्तर है।

भगवान् राम परशुराम से पूछते हैं--"महाराज, आपका क्रोध कैसे शान्त हो ?"

"एक काम करो, तो क्रोध शान्त हो जाय।"

"क्या ?"

"मुझसे लड़ो, और यदि लड़ना न चाहो तो राम कहलाना छोड़ दो"--

करु परितोषु मोर संग्रामा ।
नाहिं त छाड़ कहाउब रामा ॥१/२८०/२

प्रभु मन ही मन हँसे--आखिर सारा झगड़ा नाम का ही निकला कि मेरा नामवाला यह दूसरा कहाँ से पैदा हो गया ! यही अहंकार की वृत्ति है ।

प्रभु बोले--"महाराज, यदि नाम का ही झगड़ा हो, तो आपमें और मुझमें बड़ा अन्तर है ।"

"क्या ?"

"कहाँ मैं राम और कहाँ आप परशुराम !"--

राम मात्र लघु नाम हमारा ।
परसु सहित बड़ नाम तोहारा ॥१/२८१/६

भगवान् राम की वाणी सुनने में मधुर है, मृदु है और अन्तरंग में अत्यन्त गूढ़ है । गोस्वामीजी लिखते हैं-- 'राम बचन मृदु गूढ़' (१/५३) । प्रभु ने कटाक्ष किया-- "महाराज, मैं तो गुणरहित हूँ और आपमें नौ गुण विद्यमान हैं"--

नव गुन परम पुनीत तुम्हारें । १/२८१/७

परशुराम बोले--"कोई गुण न हो ऐसा व्यक्ति तो संसार में हो नहीं सकता ।"

प्रभु ने कहा--"महाराज, पर मुझमें तो गुणों का सर्वथा अभाव है । यदि आपको मुझमें गुण देखना ही है, तो वह मेरे धनुष में मिलेगा"--

देव एक गुनु धनुष हमारें। १/२८१/७

संस्कृत में गुण का अर्थ होता है—रस्सी। भगवान् का तात्पर्य यह था कि मुझमें तो कोई गुण नहीं है। और यदि गुण के बिना काम चले ही न, तो एक गुण मेरे धनुष में है। फिर प्रभु का वह गुण भी ऐसा है, जो सदा चढ़ा नहीं रहता। जब प्रभु को युद्ध करना होता है, तभी वे धनुष की डोरी को चढ़ाते हैं। जब तक अवगुण से लड़ाई करनी होती है, तभी तक गुण चढ़ा रहता है। जहाँ लड़ाई खतम हुई कि प्रभु उसे उतार देते हैं। पर परशुरामजी की बात ऐसी नहीं। उनका गुण एक बार जो चढ़ा, फरसा एक बार जो चढ़ा, तो फिर उतरा ही नहीं। वे सभी को अपना फरसा दिखाते रहे। इसीलिए भगवान् राम उनसे कहते हैं—महाराज, आपका नाम तो बहुत बड़ा है।

लोग तो कहते हैं कि राम नाम सबसे बड़ा है। राम हैं कौन?——

जो आनंद सिंधु सुखरासी।
सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
सो सुख धाम राम अस नामा।
अखिल लोक दायक बिश्रामा॥१/१९६/५-६

——'जो ऐसे आनन्द के सागर और सुख की खान हैं, जिसके कणमात्र से तीनों लोक सुखी होते हैं, जो सुख के धाम हैं और सम्पूर्ण लोकों को शान्ति प्रदान करनेवाले हैं, वे राम हैं।' पर परशुरामजी को यह नाम छोटा लगा और इसलिए उन्होंने अपने लिए राम के आगे परशु

जोड़ना आवश्यक समझा। फिर, फरसे का काम क्या है ?--सबको काटना, डराना। इसीलिए प्रभु उनसे कहते हैं कि आपने परशु के साथ राम जोड़कर एक अद्‌भुत संयोग उपस्थित किया है। वास्तव में गुणी तो आप ही हैं, मैं नहीं।

इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर गोस्वामीजी ने कहा कि फल वृक्ष के लिए सम्पत्ति भी हो सकता है और भार भी। जब देनेवाला वृक्ष यह माने कि फल सम्पत्ति नहीं, भार है और लेनेवाला उसे सम्पत्ति के रूप में ले, तभी देने और लेने वाले दोनों की यथार्थता है। जैसे, जब कोई आपके सिर से बोझ उतार देता है, तो आप उसे धन्यवाद देते हैं कि उसने आपका बोझ हल्का किया, वैसे ही जब दान देनेवाला यह माने कि इन्होंने मुझसे दान लेकर मेरा बोझ हल्का कर दिया और लेनेवाला कृतज्ञ हो, तभी दोनों के जीवन में सद्‌गुण का प्रवेश होगा। पर इसके विपरीत यदि देनेवाला यह कहे कि यह मेरी सम्पत्ति है, मैं चाहे दूँ या न दूँ और लेनेवाला कहे कि आप दीजिए, हम आपका भार हल्का किये दे रहे हैं, तब तो यह झगड़े की बात होगी। गोस्वामीजी कहते हैं— वृक्ष बड़ा चतुर है। जैसे ही उसमें फल आया कि झुक गया। लोग वृक्ष की बड़ी प्रशंसा करते हैं कि वृक्ष बड़ा दानी है, विवेकी है, विनयी है। पर वृक्ष का भाव यह रहता है कि यह तो मैं अपना कर्तव्य किये जा रहा हूँ। वह प्रशंसा को प्रशंसा नहीं मानता है। वह जानता है कि इसी में उसका

श्रेय है। वह अपने फल वाहर रखता है। आम, केले, कटहल सब वाहर ही लगे रहते हैं। पर और भी कई पौधे हैं, जो अपने फल भीतर रखते हैं—जैसे आलू, शकरकन्द, मूली आदि। जो अपना फल वाहर रखता है, उसका तो केवल फल ही टूटता है, पर जो अपना फल गाड़कर रखता है, उसे तो लोग खोदकर जड़ सहित उखाड़ देते हैं। अतः अच्छी बात तो यही है कि वस्तु को बाहर रख उसका सदुपयोग होने दें, गाड़कर रखने से क्या लाभ ? वृक्ष वड़ा विवेकी है। वह जानता है कि झुकने में सव प्रकार से लाभ है। कैसे ? जब उसने भूतकाल पर विचार किया, तो देखा कि उसनें जितना रस प्राप्त किया, सव पृथ्वी से पाया; अतः उचित है कि वह पृथ्वी को नमन करे। भविष्य का जब उसने चिन्तन किया, तो उसे लगा कि क्या मैं हमेशा के लिए फल को पकड़े रह सकता हूँ ? यदि मैं उसे न भी देना चाहूँ, तो एकदिन वह सड़कर खुद ही गिर जायगा, नष्ट हो जायगा। अतः देना ही उचित है। वर्तमान काल में उसने देखा कि यदि वह झुकता है, तो लोग आयेंगे और हाथ से फल तोड़ लेंगे। यदि वह नहीं झुकता है, तो लोग पत्थर मारकर फल तोड़ेंगे। कोई लाठी चलाएगा, तो कोई ऊपर चढ़कर तोड़ेगा। सर पर कोई चढ़कर फल तोड़े इससे तो अच्छा यही है कि खुद झुककर दे दिया जाय, ताकि लोगों को भी तृप्ति मिले और स्वयं को शान्ति। इसलिए वृक्ष दानी होकर भी स्वयं को अहंकार से नहीं वाँधता। वह

गुणों के वशीभूत नहीं होता ।

यही भरतजी का चरित्र है। उनके चरित्र की आवश्यकता क्यों पड़ी ? भगवान् राम ने देखा कि जितने गुणवान् व्यक्ति हैं, सब अपने गुणों द्वारा ही हार रहे हैं। अतः ऐसा चरित्र संसार के सामने प्रकट किया जाय, जिसमें गुण तो सब हों, पर गुणीपन का अहंकार न हो; पुण्य तो हो, पर पुण्यात्मा होने की वृत्ति का सर्वथा अभाव हो।

भगवान् राम भरतरूपी समुद्र का मन्थन करते हैं। क्यों ? इसलिए कि उसमें से प्रेमरूपी अमृत निकले। इसके लिए उपाय क्या था ?--भगवान् वन को गये। और इसके लिए उन्होंने निमित्त बनाया भरत को। उन्होंने ऐसी परिस्थिति खड़ी की कि भरत को राज्य मिले और उन्हें वनवास। इससे श्री भरत को इतना तीव्र आघात पहुँचा कि विरह-वेदना से उनका हृदय मथित हो उठा और तभी उससे प्रेमरूप अमृत निकला--

पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर ॥२/२३८

--'प्रेम अमृत है, विरह मन्दराचल है, भरतजी गहरे सागर हैं, कृपासिन्धु श्रीराम ने स्वयं मथकर इस प्रेमरूपी अमृत को प्रकटाया है।'

श्री भरत की वृत्ति ही अनोखी है। जब वे ननिहाल से लौट कैकेयी अम्बा के महल में आये, तो यह समझकर नहीं आये कि कैकेयी मेरी माता हैं, बल्कि इसलिए कि कैकेयी अम्बा का श्री राघवेन्द्र के प्रति बड़ा अनुराग है

और राघवेन्द्र बहुधा उनके ही भवन में रहते हैं, जिसके कारण कौसल्या और सुमित्रा अम्बा भी अपने भवनों को छोड़ वहाँ चली आती हैं। फिर पिताजी–महाराज दशरथ–भी वहीं रहते हैं। इसलिए भरतजी का अभिप्राय यही था कि माता कैकेयी के महल में सभी के दर्शन हो जाएँगे, अतः वहीं चलना चाहिए। किन्तु जब उन्होंने वहाँ पहुँचकर देखा कि न तो वहाँ पिताजी हैं, न माताएं, न श्री राघवेन्द्र और न लक्ष्मण ही, तो उनके मुख से पहली बात निकली––

कहँ कहुँ तात कहाँ सब माता।
कहँ सिय राम लखन प्रिय भ्राता ।।२/१५८/८

––पिताजी कहाँ हैं ? मेरी सब माताएं कहाँ हैं? सीताजी और प्यारे भाई राम-लक्ष्मण कहाँ हैं ?'

कैकेयी ने तुरन्त अपनी करनी बतलायी–

तात बात मैं सकल सँवारी।
भै मंथरा सहाय बिचारी ।।
कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ।
भूपति सुरपति पुर पगु धारेउ ।। २/१५९/१-२

––'बेटा ! मैंने सारी बात बना ली। बिचारी मन्थरा सहायक हुई। पर विधाता ने बीच में जरा सा काम बिगाड़ दिया। वह यह कि राजा स्वर्ग सिधार गये।'

भरतजी यह सुन व्यथित हो बोले––'पिताजी की मृत्यु का कारण क्या है ?'––

कहु पितु मरन हेतु महतारी। २/१५९/६

कैकयी ने तब सारी घटना सुना दी। सुनते ही

भरतजी कुछ क्षण के लिए स्तब्ध रह गये। वाणी मूक हो गयी। और जब बोलना शुरू किया, तो माता के प्रति ऐसे कठोर निर्मम शब्द निकले कि उन्हें सुनकर आश्चर्य होता है कि क्या भरतजी जैसे व्यक्ति भी ऐसे शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं ? गोस्वामीजी लिखते हैं--

जब तैं कुमति कुमत जियँ ठयऊ।
खंड खंड होई हृदय न गयऊ ॥
बर मागत मन भइ नहिं पीरा।
गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा ॥
भूपँ प्रतीति तोरि किमि कीन्हीं।
मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही ॥
बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी।
सकल कपट अघ अवगुन खानी ॥ २/१६१/१-४

लोगों को लगता है कि श्री भरत का माता के प्रति इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग करना उचित नहीं था, यह तो अधर्म प्रतीत होता है। और यदि ऐसा है, तब फिर वसिष्ठजी ने उनके बारे में यह कैसे कह दिया कि भरत जो तुम समझोगे, कहोगे और करोगे, वह धर्म का सार है ? प्रश्न अपनी जगह ठीक है, पर यदि हम आन्तरिकता के साथ विचार करें, तो पायेंगे कि भरतजी के इस व्यवहार में भी अधर्म नहीं, वरन् धर्मसार का ही प्रतिपालन हुआ है। यहाँ पर पुनः यह प्रश्न उठता है कि यदि भरत धर्म का ही पालन करते, तो उन्हें माता कैकयी की आज्ञा बिना उचित-अनुचित विचार किए स्वीकार कर

लेनी चाहिए थी, क्योंकि 'मानस' में ही कहा गया है--

अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन ।। २/१७४

--'जो उचित-अनुचित का विचार त्यागकर पिता के वचनों का पालन करते हैं, वे सुख और सुयश के पात्र हो अन्त में स्वर्ग में निवास करते हैं।'

फिर, कौसल्या अम्बा भी कहती हैं--

जौं केवल पितु आयसु ताता।
तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ।। २/५५/१

--'हे तात ! यदि केवल पिता की आज्ञा हो, तो माता को पिता से बड़ी जान वन को मत जाओ।'

जब माँ पिता से बड़ी हैं, तो भरतजी को चाहिए था कि माँ की आज्ञा स्वीकार कर लेते। राज्य ग्रहण कर लेते। धर्म का पालन हो जाता। पर राज्य स्वीकारना तो एक ओर रहा, उन्होंने माता के प्रति कठोरतम शब्दों का प्रयोग किया। यह कैसा धर्मपालन है ?

सूक्ष्म चिन्तन करने पर हम पाएँगे कि शास्त्रों में यह जो कहा गया है कि व्यक्ति को बिना सोचे-विचारे माता-पिता की आज्ञा मान लेनी चाहिए, उसका विशेष अभिप्राय है--वह यह कि अधिकांश व्यक्ति जो स्वयं उचित-अनुचित का निर्णय लेते हैं, वे स्वयं के स्वार्थ और अहंकार से प्रेरित होकर करते हैं, और इसलिए वह निर्णय ठीक नहीं हो पाता। माता-पिता का सन्तान के प्रति जो निर्णय होगा, वह उसके कल्याण के लिए होगा।

इसीलिए शास्त्रों का कथन है कि उचित-अनुचित का विचार छोड़ माता-पिता की आज्ञा का पालन करो। लेकिन आज्ञापालन के पूर्व यह ठीक विचार कर लेना आवश्यक है कि आज्ञा देनेवाले स्वस्थ मानसिक स्थिति में हैं या नहीं। मुझे याद आता है, मैं उन दिनों काशी में अपने गाँव के एक गुरु महाराज के साथ रह रहा था शिवरात्रि के दिन में उन्होंने भाँग पी ली। और जब भाँग का नशा जरा ज्यादा चढ़ा, तो वे लेट गये और मुझसे बोले---"मैं तो मर गया हूँ, मुझे मरघट में ले जाकर फूँक दो। 'अव मैं यदि' अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन' का पालन करने लगता, तब तो अनर्थ ही हो जाता !

शास्त्र के कथन का यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति चाहे जिस स्थिति में कहे, उसे हम मान लें। उसका अभिप्राय यह है इस भय से आज्ञा का उल्लंघन मत करो कि आज्ञापालन में कष्ट होगा। पर जिस आज्ञा के पालन में न हमारा हित हो और न आज्ञा देनेवाले का, ऐसी आज्ञा का पालन उचित नहीं। यह धर्म न होकर अधर्म हो जाता है। यह धर्म के उद्देश्य को ही नष्ट कर देता है। यदि आज्ञा ऐसी हो कि उससे आज्ञा देनेवाले का सर्वनाश होनेवाला हो, तो व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है कि वह कठोरतापूर्वक ऐसी आज्ञा को अस्वीकार कर दे। लक्ष्मणजी और भरतजी दोनों के चरित्रों में यह बात परिलक्षित होती है। भरतजी का माता के प्रति और

लक्ष्मणजी का परशुराम के प्रति कठोर शब्द कहना इसी का परिचायक है । परशुराम अंशावतार हैं, ब्राह्मण और पूज्य हैं । भगवान् राम भी उनके प्रति आदर और सम्मान प्रकट करते हैं । पर लक्ष्मणजी उनके प्रति अत्यन्त कठोर शब्दों का प्रयोग करते हैं । और इससे परशुरामजी का कल्याण ही साबित होता है । लक्ष्मणजी हैं कौन ? गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में लिखते हैं---

सत्यसंध, सत्यव्रत, परम धरमरत ।
निरमल करम वचन अरु मन के ।। ३७/२

---'लक्ष्मणजी अपने प्रण और व्रत के सच्चे, धर्म के परम-प्रेमी तथा मन, वचन और कर्म से निर्मल हैं ।' वे परमाचार्य हैं और इस नाते उन्हें धर्म के स्वरूप का ठीक ठीक ज्ञान है । वे जानते हैं कि मैंने किसी प्रकार भी परशुरामजी का अपमान नहीं किया है तथा वे यह भी जानते हैं कि यदि इनके साथ कठोर वाणी का प्रयोग न किया जाय, तो दूसरों का अहित तो होगा ही, इनका स्वयं का बड़ा अहित होगा । लक्ष्मणजी ने दो महान् ज्ञानियों को फटकारा । उन्होंने धनुष के टूटने से पहले महाज्ञानी जनक को और टूटने के बाद परमज्ञानी परशुराम की अच्छी खबर ली । उन्हें हँसी भी आयी कि बड़े अच्छे ज्ञानियों से भेंट हुई । एक ज्ञानी तो इसलिए नाराज हैं कि धनुष क्यों नहीं टूटता और दूसरे इसलिए कि धनुष क्यों टूटा !

जनक क्रोध में थे कि धनुष टूट नहीं रहा है---

बोले बचन रोष जनु साने । १/२५०/६

उन्होंने क्रोध भरे शब्दों में कहा--

दीप दीप के भूपति नाना।
आए सुनि हम जो पनु ठाना ॥ १/२५०/७

--'हमारे प्रण को सुनकर देश देश के राजा आये, पर बस मैं समझ गया कि--

बीर बिहीन मही मैं जानी। १/२५१/३

--पृथ्वी वीरों से खाली हो गई है !'

और परशुराम को क्रोध आया कि धनुष क्यों टूटा--

अति रिस बोले बचन कठोरा।
कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा ॥ १/२६९/३

--वे क्रोध में भरकर बोले--'अरे जड़ जनक ! बता, धनुष किसने तोड़ा ?' बड़ी विचित्र बात ! एक ज्ञानी दूसरे को जड़ बता रहा है। जिन जनक के पास बड़े बड़े महात्मा शिक्षा प्राप्त करने आते हैं, उन्हें ये जड़ बता रहे हैं। लक्ष्मणजी दोनों को नन्हे बालक से प्रतीत होते हैं और इसी बालक ने दोनों को फटकारा। दोनों उनके बारे में एकमत भी हो जाते हैं कि बालक अनुचित बोलता है। जब लक्ष्मण परशुराम को फटकारने लगे, तो जनक को याद आया, इसने मुझे भी फटकारा था। पर मुझे फटकारा तो कोई बात नहीं, इन्हें फटकारना तो अनर्थकारी है। उन्हें इतना संकोच होता है कि लक्ष्मणजी से तो कुछ बोलते नहीं, भगवान् राम की ओर देखकर कहते हैं--

मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं। १/२७७/४

——'इस वालक को रोकिए, यह बड़ा अनुचित कर रहा है।' पर वस्तुतः लक्ष्मण जिस धरातल पर हैं, वहाँ तक दोनों पहुँच नहीं पाते। लक्ष्मण भले दीखने में बालक हैं, पर वे बालक नहीं, वे तो आदिपुरुष भगवान् शेष हैं। उनसे पुराना कोई नहीं—न परशुराम और न जनक ही। उनके समक्ष तो ये दोनों ही बालक हैं। वस्तुतः बालक बूढ़ा था और बूढ़े बालक। इसीलिए जब परशुरामजी ने बिगड़कर लक्ष्मणजी से कहा——'अरे राजा के लड़के, काल के वश होने से तुझे कुछ होश नहीं है'——

रे नृप बालक काल बस बोलत तोहि न सँभार। १/२७०

——लक्ष्मणजी को हँसी आ गयी; क्योंकि वे स्वयं काल-स्वरूप ही हैं। वे तो शेषावतार हैं, जिनके क्रोध की अग्नि चौदहों भुवनों को तुरन्त जला डालती है——

सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू।
जारइ भुवन चारिदस आसू ।। ६/५४/१

और इनसे परशुराम कहते हैं कि लड़के, तू काल के वश में है। लक्ष्मणजी को हँसी आयी——अगर बालक काल के वश में है, तो वृद्ध कितना वश में न होगा! वास्तविकता तो यह थी कि परशुराम ने अपने बारे में विचार करना ही छोड़ दिया था। उनका दर्शन केवल दूसरों के लिए था। इसीलिए लक्ष्मणजी ने उन्हें फटकारा।

भगवान् राम का दर्शन सर्वथा विभिन्न है। जब वे धनुष तोड़ने उठे, तो लोगों ने क्या देखा?——

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें।

काहुँ न लखा देख सबु ठाढ़ें ।। १/२६०/७

--कि धनुष टूटा पड़ा है। कब भगवान् ने धनुष उठाया, कब चढ़ाया और कब तोड़ा, किसी ने नहीं देखा। वस, टूटा हुआ धनुष ही उनकी दृष्टि में आया। यही भगवान् राम का चरित्र है, जो यह उद्घाटित करता है कि कर्म तो हो पर कर्त्ता दिखायी न दे। और अधिकांश लोगों का अभिप्राय यह रहता है कि हम दिखायी दें, कर्म चाहे भाड़ में जाय। धनुषयज्ञ में जो अन्य राजा आये थे, वे क्या करते हैं ?--

तमकि ताकि तकि सिव धनु धरहीं। १/२४९/७

--'वे गर्जना करते हुए धनुष की ओर देखते हैंऔर उठाने जाते हैं।' और होता क्या है ?--

उठइ न कोटि भाँति बलु करहीं। १/२४९/७

--'करोड़ों प्रकार से जोर लगाते हैं, पर वह उठता ही नहीं।' और भगवान् राम क्या करते हैं ?--

सहजहिं चले सकल जग स्वामी।
मत्त मंजु वर कुंजर गामी ।। १/२५४/५
लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें।
काहुँ न लखा देख सबु ठाढ़ें ।। १/२६०/७

--वे मस्त हाथी की स्वाभाविक चाल से चलते हैं। यह कोई नहीं देख पाता कि कब उन्होंने धनुष उठाया, चढ़ाया और तोड़ा। कर्तव्याकर्तव्य को प्रधानता देनेवाले राजाओं को आश्चर्य होता है कि धनुष कैसे टूट गया। उनकी दृष्टि भगवान् राम के मुख की ओर जाती है।

पर उनके मुख पर ऐसा कोई भाव नहीं कि वे बहुत बड़ा काम करके उठे हों। राजाओं को लगता है--जरूर इसमें कई षड़यन्त्र है, कोई जादू या मृगजाल है। कोई कोई कह उठते हैं--सीता को छीन लो--

लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ। १/२६५/३

लक्ष्मणजी को चिन्ता हो जाती है। श्रीराम तो अपने स्वरूप में स्थित हैं। उन पर इसका कोई प्रभाव नहीं। लक्ष्मणजी सोचते हैं-- इन राजाओं का वध करना तो सरल है, पर वध करने से हजारों की हत्या हो जायगी, और यदि वध न करें, तो ये आक्रमण करने आ ही रहे हैं। वे यह विचार कर ही रहे थे कि परशुराम का आगमन हो जाता है। और परशुराम के आते ही सारा वातावरण बदल गया। पूर्ण राम से तो किसी को डर लगा नहीं, अपूर्ण राम के आते ही सब डर से कांपते हैं। और होता क्या है ?

पितु समेत कहि कहि निज नामा।
लगे करन सब दंड प्रनामा ॥१/२६८।२

--अपने अपने पिता का नाम ले सब दडवत् प्रणाम करते हैं। विश्वामित्र भी दोनो भाइयों को बुला प्रणाम करने कहते हैं--

पद सरोज मेले दोउ भाई।१/२६८।६

--दोनों भाई साष्टांग प्रणाम करते हैं। परशुराम उन्हें देखकर प्रसन्न होते हैं। पर उन्हें याद हो आता है कि किसी ने धनुष तोड़ दिया है। भगवान् राम उनकी बगल

में ही खड़े हैं। पर परशुराम को यह कल्पना नहीं होती कि ये भी धनुष तोड़नेवाले हो सकते हैं। क्यों ? इसलिए कि परशुरामजी तो यह कल्पना कर रहे थे कि धनुष तोड़नेवाला कुछ अकड़ा हुआ अभिमान के साथ खड़ा होगा। भगवान् राम में तो ऐसा कुछ था ही नहीं। उनकी दृष्टि दूसरे राजाओं की ओर गयी। वे सब डर के मारे सहमे, काँपते हुए खड़े थे। यह देख परशुराम का अहं जाग्रत् हुआ। उन्हें लगा—भले धनुष तोड़नेवाला पहले अकड़कर खड़ा रहा होगा, पर अब मेरे आने के समाचार से काँप रहा है। पर उन्हें दिखा कि काँपने वालों की संख्या तो बहुत अधिक है। फिर तोड़नेवाला है कौन ? वे डपटकर जनक से पूछते हैं—"धनुष का तोड़नेवाला कहाँ है ?" जनकजी डरते हैं— कैसे कहें कि बगल ही में तो खड़े हैं। कहीं फरसा चल गया तो ? जनकजी भी डर के मारे काँपते हैं। यह देख भगवान् राम ने कहा—

नाथ संभु धनु भंजनिहारा।
होइहि केउ एक दास तुम्हारा॥ १/२७०/१

—'महाराज ! धनुष तोड़नेवाला कोई एक होगा।' भगवान् यह नहीं कहते कि मैंने धनुष तोड़ा है। यहाँ पर भी वही कर्तापन का अभाव है। अपने कथन में एक बात और जोड़ देते हैं कि महाराज, तोड़नेवाला तो तब तक था, जब तक धनुष टूटा नहीं था, पर अब तो वह आपका दास है। किन्तु परशुराम इस भाषा के अभ्यस्त नहीं हैं।

वे विगड़े——राम ! तुम वड़े नम्र हो, पर यह जान लो——

सुनहु राम जेहिं सिव धनु तोरा ।
सहसवाहु सम सो रिपु मोरा ।। १/२७०/४

——जिसने शिव के धनुष को तोड़ा है वह सहस्रवाहु के समान मेरा शत्रु है । मैं तो समझता हूँ कि उसको अलग हो जाना चाहिए । नहीं तो मैं सबका सिर काट डालूँगा । लक्ष्मणजी समझ गये कि परशुराम उस भाषा के अभ्यस्त नहीं, जिसमें प्रभु बोलते हैं । अतः मैं ही दुभाषिया वनूँ, तो ठीक रहेगा । परशुरामजी जिस शब्दकोष से परिचित हैं, वह मेरे पास है । मुझे ही मध्यस्थता करनी होगी । इससे दो लाभ होंगे । पहला तो यह कि यदि वे हार जाते हैं, तो ये सारे राजा, जो लड़ने की चेष्टा कर रहे हैं, भय के कारण अपने आप भाग जाएँगे और मुझे व्यर्थ हजारों का सिर नहीं काटना पड़ेगा । और दूसरा यह कि वे श्रीराम के स्वरूप-ज्ञान से वंचित नहीं रह जाएँगे । यदि मैं ऐसा नहीं करता हूँ, तो उनका क्रोध और वढ़ेगा । भले ही श्री राघवेन्द्र को वे उनके शील और विनम्रता के कारण क्षमा कर दें, पर वे एक लाभ से वंचित रह जाएँगे । भगवान् के इतने निकट आकर भी वे उन्हें पह-चान नहीं पाएँगे । अंश-पूर्ण के पास पहुँचकर भी यदि पूर्ण को नहीं पहचान पाया, तो इससे बढ़कर उसका दुर्भाग्य और क्या होगा ? इसलिए आचार्य के रूप में लक्ष्मणजी ने निर्णय लिया कि उनकी भाषा भले ही अशिष्ट हो, पर यह उसी प्रकार कल्याणकारी है, जिस

प्रकार बच्चे के शरीर में फोड़ा हो जाने पर माता का कठोरहृदया बन उसे चिरवा डालना—

जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं ।
मातु चिराव कठिन की नाईं ॥ ७/७३/८

—बच्चा रोता है, अधीर होता है पर रोग के नाश के लिए माता उसके दुख की परवाह नहीं करती, उस फोड़े को चिरवा ही डालती है—

जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर ।
ब्याधि नास हित जननि गनति न सो सिसु पीर ॥
७/७४ (क)

उसी प्रकार लक्ष्मणजी भी यह कठोर कर्तव्य करते हैं । परिणाम यह होता है कि परशुरामजी का भ्रम दूर होता है और वे नमन करते हुए चले जाते हैं । वे केवल भगवान् की ही प्रशंसा नहीं करते कि आप बड़े अच्छे हैं और आपका यह भाई बड़ा खोटा है, किन्तु वे कहते हुए जाते हैं—

अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता ।
छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता ॥ १/२८४/६

—'मैंने अनजान में आप दोनों को बहुत से अनुचित वचन कहे । आप दोनों क्षमाशील भाई मुझे क्षमा करें ।' भगवान् राम क्षमाशील हैं यह कहना सहज है, पर लक्ष्मणजी को क्षमाशील कहना परशुरामजी की महानता है । हारने के बाद मनुष्य में हिंसा और रोष का उदय होना स्वाभाविक है, पर परशुरामजी में अब वह बात

नहीं। भगवान् का ज्ञान होने पर वे अत्यधिक प्रसन्न होते हुए कहते हैं--'आज लक्ष्मण ने मुझे धन्य बना दिया। अगर वे ऐसा न बोलते, तो मेरा भ्रम बना ही रहता' इस प्रकार श्रीराम और लक्ष्मण दोनों की प्रशंसा करते हुए परशुराम जाते हैं। जब वे चले गये, तो जनकजी बेचारे आए। उन्हें लग रहा था कि नाहक मैंने लक्ष्मणजी पर गलत आरोप लगाया था। वे भी कह उठते हैं--

मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहुँ भाई। १/२८५/६

--'आप दोनों भाइयों ने मुझे कृतकृत्य कर दिया।' उनका अभिप्राय यह है कि राम तो ईश्वर हैं, पर राम के ईश्वरत्व को जनानेवाले लक्ष्मणजी ही हैं। तात्पर्य यह है कि कभी कभी कठोरता भी सच्चे अर्थों में कल्याण की दृष्टि से गुणकारक होती है। इसीलिए भरतजी भी कैकेयी अम्बा के अन्त:करण में हुए व्रण को कठोरता के साथ चीर डालते है। परिणाम यह होताहै कि कैकेयी अम्बा भी धन्य हो जाती है। यदि धर्म की रक्षा के लिए भरतजी कैकेयीजी से नम्रतापूर्वक बोलते, उनकी बातों को स्वीकार कर राज्य ग्रहण कर लेते, तो भले ही बाह्य दृष्टि से यह धर्म का पालन प्रतीत होता, पर वास्तव में धर्मसार का उद्देश्य धरा ही रह जाता और रामराज्य की स्थापना न हो पाती।

●

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) जल का मूल्य

ग्रीष्म की भयंकर ज्वाला से प्राणिमात्र सन्तप्त थे। नदी, नालों, सरोवरों, तालों आदि का जल सूख गया था; वृक्ष तपन से दग्ध थे और जीवजन्तु आकुल। धरती इन्द्रदेव की कृपा से वंचित थी। ऐसी स्थिति में रोहिणी तट पर शाक्यों और कोलियों में रोहिणी के जल के उपयोग पर विवाद छिड़ गया। विवाद ने गम्भीर रूप धारण कर लिया और वह युद्ध में परिणत हो गया। दोनों एक-दूसरे के प्राणों के शत्रु हो गये। उसी समय भगवान् बुद्ध ने कपिलवस्तु में रोहिणी के तट पर अपना डेरा डाला था। युद्ध का समाचार सुन वे वहाँ गये और उन्होंने प्रश्न किया, "किस बात का कलह है आप लोगों में?"

"रोहिणी के जल का झगड़ा है, भन्ते!" दोनों ओर से सम्मिलित उत्तर आया।

"भला बताओ तो, जल का क्या मूल्य है?" भगवान् ने दोनों ओर के सेनापतियों तथा सैनिकों से प्रश्न किया।

"कुछ भी नहीं, भन्ते! जल विना मूल्य के प्रत्येक स्थान पर अनायास मिल जाता है," उन्होंने दृष्टि नत किये उत्तर दिया।

"और क्षत्रियों का क्या मूल्य है?" उन्होंने फिर प्रश्न किया।

"क्षत्रियों का मूल्य लगाया नहीं जा सकता। वे नितान्त अनमोल हैं।" दोनों ने उत्तर दिया।

"तो फिर अनमोल क्षत्रियों का रक्त साधारण जल के लिए बहाना क्या उचित है ?"

"नहीं भन्ते ! हमसे भूल हुई थी। हमें प्रकाश मिल गया। अब हम इस क्षुद्र जल के लिए कभी नहीं झगड़ेंगे !" उत्तर मिला और दोनों में समझौता हो गया।

(२) सच्चा यज्ञोपवीत

बालक नानक के पिता कल्याणराय ने उनका यज्ञोपवीत कराने के लिए अपने इष्ट सम्बन्धियों एवं परिचितों को निमंत्रित किया। बालक नानक को आसन पर बिठाकर जब पुरोहित ने उन्हें कुछ मंत्र पढ़ने कहा, तो उन्होंने उसका प्रयोजन पूछा। पुरोहित समझाते हुए बोला, "तुम्हारा यज्ञोपवीत-संस्कार हो रहा है। धर्म की मर्यादा के अनुसार यह पवित्र सूत का डोरा प्रत्येक हिन्दू को इस संस्कार में धारण कराया जाता है। तुम्हें भी इसी धर्म में दीक्षित कराया जा रहा है।"

"मगर यह तो सूत का है, क्या यह गन्दा न होगा?" बालक नानक ने प्रश्न किया।

"हाँ, पर साफ भी तो हो सकता है।"

"और टूट भी सकता है न ?"

"हाँ, पर नया भी तो धारण किया जा सकता है।"

"अच्छा," फिर कुछ सोचकर बोले, "मगर मृत्यु के उपरान्त यह भी तो शरीर के साथ जलता होगा न ? यदि इसे धारण करने से भी मन, आत्मा, शरीर तथा स्वयं यज्ञोपवीत में पवित्रता नहीं रहती, तो इसे धारण

करने से क्या लाभ ?"

पुरोहित और अन्य लोग इस तर्क का उत्तर न दे पाये तब बालक नानक बोले, "यदि यज्ञोपवीत ही पहनाना है, तो ऐसा पहनाओ कि जो न टूटे, न गन्दा होए और न बदला जा सके। जो ईश्वरीय हो, जिसमें दया का कपास हो, सन्तोष का सूत हो। ऐसा यज्ञोपवीत ही सच्चा यज्ञोपवीत है। पुरोहित जी ! क्या आपके पास ऐसा यज्ञोपवीत है ?"

और यह सुन सब अवाक् रह गये, उनसे कोई उत्तर न देते बना।

(३) वैराग्य का अनुभव

महाराष्ट्र सन्त सन्तोबा पवार एक बार रांजणगाँव पधारे। एक घर में भिक्षा माँगने पर गृहस्वामिनी ने भिक्षा देते हुए कहा, "महाराज ! आपसे एक प्रार्थना है, वह यह कि मेरे पति मुझसे रोज लड़ते-झगड़ते हैं और यह ताना देते हैं कि ज्यादा बकवास करोगी तो सन्तोबा के समान मैं भी वैराग्य धारण करूँगा और तब तुम्हें दाल-आटे का भाव मालूम होगा। आप ही बताएँ, मैं क्या करूँ ?"

सन्तोबा हँसते हुए बोले, अब की बार यदि वे कहें, तो उनसे कहना—"मेरे व्यवहार तुम्हारे बिना भी चल सकते हैं, खुशी से सन्तोबा के पास जाओ।"

दूसरे ही दिन पति किसी बात पर पत्नी पर नाराज हुआ और हमेशा की तरह उसने वैराग्य धारण करने की

धमकी दी। मगर इस बार पत्नी ने केवल सुना नही, बोली भी "जाओ, सन्तोबा से मंत्र-दीक्षा लेकर वैराग्य धारण करो। मैं अपना गुजारा कैसे भी कर लूँगी।" पति गुस्से में था ही तुरन्त सन्तोबा के पास पहुँचा और बोला, महाराज ! गृह-कलह के कारण मैं आपके पास वैराग्य धारण करने आया हूँ। मुझे भी अपने साथ शामिल कर लें।"

सन्तोबा ने जान लिया कि ये महाशय उसी स्त्री के पति हैं। उन्होंने उसके वस्त्र उतरवाकर फटे-चीथड़े वस्त्र पहनने कहा। फिर उससे बोले, "अब भी समय है, घर वापस जाओ, क्योंकि यहाँ तुम्हें सुख बिलकुल नहीं मिलेगा।" इस पर वह बोला, "आपकी हर आज्ञा का मैं पालन करूँगा और उसमें सुख मानूँगा, पर घर लौटने को न कहें।" तब सन्तोबा ने उसके सारे शरीर पर भभूत लगायी और एक झोली तथा एलुमिनियम के बर्तन दे उसे भिक्षा लाने भेजा।

वह ब्राह्मण समीप के ग्राम में गया और घर-घर भिक्षा माँगने लगा, मगर लोग उसे देख द्वार बन्द कर लेते। आखिर दो घरों से उसे भिक्षा के रूप में बासा चाँवल, रोटी, तरकारी आदि मिली। वही लेकर वह सन्तोबा के पास पहुँचा। उन्होंने झोला और बर्तन खाली कराया और उसे परोसा। मगर उसे देखते ही वह नाक-भौं सिकोड़ने लगा और उसने खाने से अस्वीकार कर दिया। तब सन्तोबा ही उसे खाने लगे और बोले,

"ऐसा सुम्वादु भोजन तो हम रोज करते हैं जब तुमने घर का त्याग किया है, तो घर के मिष्ठान्न भोजन का भी त्याग करना पड़ेगा। वैराग्य धारण करना आसान नहीं है। ध्यान रखो, वह 'सूली ऊपर सेज पिया की जैसा है'।"

"यदि वैराग्य ऐसा ही है, तव मुझे मेरी झंझटों और बखेड़ों वाली गृहस्थी ही भली !" ऐसा कह कर ब्राह्मण अपने घर वापस लौट गया। कुछ दिनों वाद सन्तोवा उसके घर गये। तव उसकी पत्नी बोली, "अव वे मुझे तंग नहीं करते और न वैराग्य-धारण करने की धमकी ही देते हैं !"

(४) भगवद्दर्शन

मुस्लिम सन्त अबू सईद-विन-अबुल खैर से एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया, "हजरत ! सुना है कि कोई कोई महात्मा आकाश में उड़ते हैं, कोई पानी पर चलते हैं और कोई कोई तो एक जगह से दूसरी जगह क्षण भर में पहुँच जाते हैं क्या यह सव सच है ?"

इस पर अबू सईद ने उत्तर दिया, "मेंढक पानी में तैर सकता है, अवासील पानी पर चल सकता है, कौआ आकाश में उड़ सकता है और शैतान दुनिया के एक सिरे से दूसरे सिरे तक क्षण भर में जा सकता है, तो क्या ये सब सन्त-महात्मा हो गये ? वास्तव में महात्मा वह है, जिसे खुदा का दीदार (दर्शन) हुआ है। उसके लिए खुदा तक पहुंचने के रास्ते सारे धर्म हैं। बस वही खुद प्रेमी है और प्रेम भी वही है, सौन्दर्य भी वही है और शीशा भी वही है। मन में जो इच्छाएँ होती हैं, उन्हें दूर करने

से मन शान्त होता है और तभी खुदा का दीदार होता है।"

उस व्यक्ति ने पुनः प्रश्न किया, "मन के शान्त हो जाने से ही खुदा का दीदार कैसे होगा ?

अबू सईद ने जवाब दिया, "मनुष्य और खुदा के बीच प्रकाश या पृथ्वी का परदा नहीं है। खुदा तो हर जगह मौजूद है। परदा है केवल घमण्ड का—अभिमान का। जब तक तुम्हें अपना ख्याल रहेगा, तब तक तुम्हारा दिल खुदा की तरफ नहीं फिरेगा और जब खुदा की याद में तुम अपने आपको भूल जाओगे, तब तुम्हारे दिल में खुदा ही खुदा रहेगा।"

(५) विश्वास की शक्ति

साइमन नामक एक भक्त ने प्रभु ईसामसीह को भोजन के लिए अपने घर निमंत्रित किया। उनके आने के कुछ ही देर बाद मैगडलन नामक एक नगर-महिला भी अन्दर आयी। उसने ईसा के चरण पकड़े, धोकर उनपर तेल मला। उसके नेत्रों से अश्रु झरने लगे। यह देख साइमन को गुस्सा आ गया। मैगडलन दुश्चरित्र थी और उसने उसके घर में प्रवेश करके ईसा को स्पर्श कर दिया था। वह सोचने लगा कि यदि ईसा भगवान् के दूत होंगे तो मैगडलन को पापिनी समझकर भगा देंगे।

इतने में ईसा बोले, "साइमन! मुझे तुमसे कुछ कहना है।"

"कहिए, श्रीमान !" साइमन ने कहा।

"सुनो," ईसा बोले, "एक महाजन से एक व्यक्ति ने पाँच सौ और दूसरे ने पचास पेंस का ऋण लिया किन्तु वे ऋण अदा न कर सके। तब महाजन को उन दोनों पर

दया आयी और उसने दोनों को ऋण मुक्त कर दिया। अब बताओ, उन दोनों में से महाजन को कौन अधिक चाहेगा ?"

"मेरे विचार से जिसने पाँच सौ पेंस का ऋण लिया था।"

"बिलकुल ठीक विचार हैं तुम्हारे !" ईसा बोले, "मैनें तुम्हारे घर में प्रवेश किया, तब तुमने मुझे केवल पधारनें कहा, किन्तु इस देवी ने, जिसे तुम पापिनी समझते हो, अपने अश्रुओं से मेरे चरण धोये और केशों से पोंछे। तुमने शरीर को लगाने को तेल तक नहीं दिया किन्तु उसने स्वयं तेल से मेरे पैरों की मालिश करके मेरी थकावट दूर की। मेरा दृढ़ विश्वास है कि श्रद्धा और पवित्रता से पूर्ण इस निष्काम सेवा के कारण इसके सारे पाप घुल गये हैं।" यह कहकर उन्होंने साइमन की शंका दूर की। वे मैगडलन से बोले, "तुम्हारे पाप क्षमा कर दिए गये हैं, देवी !"

"मगर आपमें दूसरों के पापों को क्षमा करने की शक्ति है कहाँ ?" उपस्थित लोगों नें ईसा से प्रश्न किया।

इधर मैगडलन रो रही थी। उसके हृदय के पश्चात्ताप का प्रपात नयनों से प्रवाहित हो रहा था। ईसा बोले, "यदि किसी व्यक्ति को अपने पापों के लिए पश्चात्ताप हो तो कोई भी व्यक्ति उसके पापों को क्षमा कर सकता है। इस देवी का यह विश्वास कि सन्त और महात्मा की सेवा से पाप नष्ट हो जाएंगे, सफल हुआ। विश्वास में बड़ी शक्ति होती है। यह सत्य की शक्ति होती है। यह सत्य की शक्ति है; इससे परमात्मा मिल जाते हैं" ईसा ने मैगडलन को अपने कृपामृत से परम पवित्र कर दिया।

(गीताध्याय २, श्लोक ३०)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।३०।।

(भारत) हे भारत (अयं) यह (देही) देह में रहनेवाला इसका स्वामी (आत्मा) (सर्वस्य) सबके (देहे) शरीर में (नित्यं) सदैव (अवध्य:) अवध्य है (तस्मात्) इसलिए (त्वं) तू (सर्वानि) समस्त (भूतानि) भूतों को (शोचितुं) शोक करने (न अर्हसि) योग्य नहीं है।

"हे भारत ! शरीर के भीतर रहनेवाला उसका स्वामी यह आत्मा सभी शरीरों में सदैव अवध्य रूप से विद्यमान है, अतएव तुझे किसी प्राणी के लिए शोक करना उचित नहीं।"

पिछले श्लोक की चर्चा करते समय हमने आत्मा की आश्चर्यरूपता पर विचार किया, यह देखा कि जो आत्मा का द्रष्टा, वक्ता और श्रोता है, ये तीनों के तीनों आश्चर्यरूप हैं। हमने कहा कि आत्मा मन और वाणी का विषय न होने के कारण, अनुमान का विषय न होने के कारण किसी भी प्रकार शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसलिए आत्मा का जो देखना है, वह आश्चर्यरूप है। यहाँ पर यह 'देखना' एक उपलक्षण है। इस शब्द के द्वारा इन्द्रियों की समस्त क्रियाएँ गृहीत हुई हैं—जैसे देखना, सुनना, सूँघना, छूना और चखना। किसी भी वस्तु को जानने के लिए इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों की सहायता लेनी होती है। पर आत्मा न तो चक्षु का

विषय है, न कर्ण का; न नाक का, न त्वचा का, और न जिह्वा का ही। ऐसे आत्मतत्त्व का जो देखना है, वह निश्चय ही आश्चर्यरूप है--द्रष्टा भी आश्चर्यरूप और देखने की क्रिया भी आश्चर्यरूप। और इन्द्रियों की पकड़ में न आकर समस्त इन्द्रियों को सत्ता प्रदान करनेवाला आत्मा तो निश्चय ही अति आश्चर्यरूप है।

हमने पिछले प्रवचन में यह भी कहा था कि आत्मा का वक्ता भी आश्चर्यरूप है। जिस अर्थ में हम इन्द्रियग्राह्य पदार्थों का वर्णन करते हैं, उस अर्थ में आत्मा का वर्णन नहीं हो सकता। जो आत्मा का वक्ता बनना चाहेगा, उसे आत्मा का ज्ञान होना आवश्यक है। किसी वस्तु को बिना जाने उसका वक्ता होना कैसे सम्भव है? और आत्मा ऐसा तत्त्व है, जिसे कोई कहे कि मैं जानता हूँ तो नहीं जानता। केनोपनिषद् में कहा है--

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

--'जो समझता है कि मैं आत्मतत्त्व को नहीं जानता, वह उसे जानता है; और जो समझता है कि मैं उसे जानता हूँ, वह उसे नहीं जानता, क्योंकि यह आत्मतत्त्व अजान के लिए जाना हुआ है और जाननेवाले के लिए अजाना है।' उपनिषद् के कथन का यही तात्पर्य है कि कोई उस आत्मतत्त्व को उस अर्थ में जानने का दावा नहीं कर सकता, जिस अर्थ में हम संसार की वस्तुओं को जाना करते हैं। यही आत्मा

की आश्चर्यरूपता है। उसे जाननेवाला मौन हो जाता है। श्रीरामकृष्ण एक चुटकुला सुनाते हैं।

किसी के दो बेटे थे। पिता चाहता था कि दोनों बेटे ब्रह्मज्ञानी बनें, इसलिए उसने दोनों बेटों को एक श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास ज्ञानार्जन के लिए भेजा। समय पाकर दोनों ने आत्मविद्या उपलब्ध की और गुरु से बिदा ले घर लौटे। पिता ने कुशल-प्रश्न, प्रणाम-आशीर्वाद आदि के बाद अपने बेटों से पूछा, "वत्सगण! बताओ तो सही, तुम लोगों ने आत्मा के बारे में क्या जाना है?" बड़ा बेटा शास्त्रों के उद्धरण पर उद्धरण देकर बताने लगा कि आत्मा कैसा है, पर छोटा बेटा चुप रहा। पिता ने छोटे से पूछा, 'बेटे! तू क्यों चुप है? क्या तूने नहीं जाना कि आत्मा कैसा है?" उसने उत्तर में सिर नीचे कर लिया और मौन ही रहा। तब पिता ने उस कनिष्ठ पुत्र को सम्बोधित करते हुए कहा, "वत्स! तूने ही आत्मा को ठीक ठीक जाना है। आत्मा का निर्वचन नहीं हो सकता। तेरा यह बड़ा भाई तो आत्मा को नहीं जान सका! उसे पुनः गुरुगृह भेजना पड़ेगा।

एक दूसरी कथा भी इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध है। किसी ने एक महात्मा से जाकर प्रश्न पूछा, "महाराज! आत्मा क्या है? कृपया उसका मुझे उपदेश दें।" सन्त मौन रहे। जिज्ञासु ने दूसरी बार उनसे वही प्रश्न किया, फिर भी सन्त मौन ही रहे। तब तीसरी बार प्रश्नकर्ता ने कुछ झल्लाकर पूछा, "क्या आप बहरे हैं, जो मेरी बात

नहीं सुनते ? मैं बार बार पूछ रहा हूं कि आत्मा क्या है और आपसे निवेदन कर रहा हूं कि उसका उपदेश दें, पर आप हैं कि मौन साधे बैठे हैं !" सन्त ने शान्त स्वर में कहा, "अरे भाई ! मैं तो हर बार तुम्हारे प्रश्न का ही उत्तर दे रहा था। तुम नहीं समझ सके इसमें मेरा क्या दोष ?" "कहाँ ?" जिज्ञासु बोला, "आपने कहाँ मेरे प्रश्न का उत्तर दिया ? आप तो मौन ही रहे !" महात्मा बोले, "अरे ! मौन ही तो आत्मा का निर्वचन है। मौन ही उसका नाम है। मौन ही उसका स्वरूप है। मौन ही में उसकी उपलब्धि होती है !"

कहा भी तो है--

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्याः गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः ॥

—'वट के नीचे गुरु और शिष्यगण बैठे हुए हैं। गुरु युवा हैं, जबकि शिष्यगण वृद्ध। गुरु मौन हैं और उनके मौन व्याख्यान से ही शिष्यों के संशय छिन्न-भिन्न हुए जा रहे हैं, यह कैसा आश्चर्य है !'

तो मौन ही आत्मा का व्याख्यान है। आत्मद्रष्टा मौन हो जाता है, फिर बोले कैसे ? और जो बोला जाता है, वह आत्मा नहीं है। इसीलिए आत्मा का वक्ता आश्चर्य-रूप है। जो आत्मा की अनुभूति को वाणी द्वारा व्यक्त कर सके वह आश्चर्य-वक्ता ही होना चाहिए। जब सामान्य स्वाद की अनुभूति को हम शब्दबद्ध नहीं कर पाते, हर्ष या विषाद को सटीक शब्दों में बांध नहीं पाते, तो गहन-

तम आत्मानुभूति को वाणी द्वारा व्यक्त कर पाना असम्भव सा ही व्यापार है। ऐसे असम्भव व्यापार को जो कुछ-कुछ सम्भव सा कर दे, वह आश्चर्य-वक्ता ही होगा। इस आश्चर्यरूपता को व्यक्त करने के लिए केनोपनिषद् (२।२) में साधक अपने ज्ञानलाभ की स्थिति को प्रकट करता हुआ कहता है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥

—"न तो मैं यह मानता हूँ कि ब्रह्म को अच्छी तरह जान गया और न यही समझता हूँ कि उसे नहीं जानता, क्योंकि उसे जानता तो हूँ। इसमें से उसे 'न तो नहीं जानता हूँ और न जानता ही हूँ' इस प्रकार जानता है, वही जानता है।"

आत्मा को व्यक्त करने की यही कठिनाई है। जिसने उसे जाना, बह कहता है कि मैं नहीं जानता, और जो उसे नहीं जानता, वह कहता फिरता है कि मैं आत्मज्ञानी हूँ। आत्मा का स्वरूप ऐसा होने के कारण धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में बड़ा पाखण्ड और छल-कपट चला करता है। आत्मज्ञान की कोई भौतिक कसौटी तो है नहीं। इसीलिए धर्म के क्षेत्र में अधर्म पनपता है। जिस वाणी में अनुभूति का बल न हो, वह कितनी भी वैखरी क्यों न हो, केवल भोग की वस्तु है। शंकराचार्य 'विवेक-चूड़ामणि' में कहते हैं—

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वत् भुक्तये न तु मुक्तये॥

—'वाणी वैखरी हो, मुँह से शब्द झरने के समान निरन्तर फूटते हों, शास्त्रों की व्याख्या करने में बड़ी कुशलता हो, पर ये सब विद्वानों के उपभोग की चीजें हैं, ये मुक्ति में सहायक नहीं हैं।'

इस प्रकार भिन्न भिन्न तरीकों से शास्त्र हमें बताते हैं कि आत्मा का वक्ता होना एक आश्चर्य की ही बात है। श्रीरामकृष्ण गगरी और भौंरे का उदाहरण देते हैं। जब तक गगरी भर नहीं जाती, उसमें शब्द होता रहता है। ज्योंही गगरी जल से भर गयी कि आवाज बन्द। जब तक भौंरा फूल पर बैठकर मकरन्द का पान नहीं करता, तब तक गुनगुनाता रहता है और जब फूल पर बैठकर रसपान करने लगता है, तो चुप हो जाता है। पर श्रीरामकृष्ण थोड़ा रुककर कहते हैं—"जानते हो, जब इस गगरी से दूसरी गगरी में जल उँड़ेलो, तो पुनः आवाज होती है। जब भौंरा रस पीकर फूल छोड़कर उड़ता है, तो फिर से गुंजार करने लगता है। ऐसे ही जब ज्ञानलाभ से मौन व्यक्ति दूसरों के कल्याण के लिए अनुभूतियाँ देना चाहता है, तो मुखर हो उठता है।" ऐसे व्यक्ति, श्रीरामकृष्ण की भाषा में, 'बिल्ला'धारी हुआ करते हैं। इन्हें भगवान् से उपदेश देने का मानो बिल्ला मिला हुआ रहता है। ऐसे बिल्लाधारी अत्यन्त विरले होते हैं। इन्हीं को गीता ने आश्चर्य-वक्ता कह कर पुकारा।

एक भागवती पण्डित किसी राजा के पास गया और उससे बोला, 'राजन! आप मुझसे भागवत सुन लें,

आपका कल्याण होगा।" राजा ने उससे कहा, "पहले आप स्वयं पढ़ लें, फिर मुझे सुनाएँ!" पण्डित लौट गया और विचार करने लगा--"राजा ने मुझे स्वयं पढ़ने की बात क्यों कही? सम्भव है, मेरे पढ़ने में कुछ कमी हो। वैसे तो मैंने भागवत को कितनी बार पढ़ा है!" उसने पुनः भागवत पढ़ा और राजा के पास उपस्थित होकर बोला, "राजन्! अब तो भागवत सुन लें।" राजा ने इस बार भी वही कहा, "पण्डितजी! पहले आप स्वयं पढ़ लें।" पुनः वह लौट गया। उसे राजा पर कुछ रोष भी हुआ कि विचित्र व्यक्ति है, मुझ भागवत के पण्डित को पुनः भागवत पढ़ने के लिए कहता है। पर कुछ विचार कर उसने निश्चय किया कि नहीं, राजा की बात में कोई तुक होगा, मुझे एक बार फिर भागवत पढ़ लेना चाहिए। उसने पुनः भागवत का स्वाध्याय किया और राजा के पास जाकर बोला, "महाराज! अब तो भागवत सुन लें। आपके निर्देशानुसार मैंने भागवत् पढ़ लिया है।" पर राजा ने तब भी वही पहलेवाली बात दुहरायी--"अजी, मैं फिर से कहता हूँ, पहले आप स्वयं तो पढ़ लें, फिर मुझे सुनाने आएँ।" इस बार ब्राह्मण घोर क्षुब्ध हो गया। मन ही मन राजा को भला-बुरा कहता हुआ घर लौटा। जब उसका क्रोध कुछ शान्त हुआ, तो उसने सोचा कि राजा तो निरर्थक ही ऐसा कहेगा नहीं, उसकी बातों में अवश्य कोई गूढ़ अर्थ होगा, ऐसा विचार कर उसने पुनः भागवत् का स्वाध्याय किया। आत्म-विश्लेषण से उसका मन पवित्र

हो चुका था। इस समय जब वह भागवत का पारायण कर रहा था, तो अचानक भागवत का तत्त्वज्ञान उसके अन्तःकरण में उद्भासित हो उठा। उसने अनुभव किया कि यह संसार तो मिथ्या है, मरुमरीचिकावत् है। उसके हृदय का वैराग्यानल धधक उठा। उसे लगा कि वह निरर्थक ही राजा को भागवत सुनाने के लिए जाया करता था। तब उसे राजा की बात का मर्म समझ में आया— "पहले आप स्वयं भागवत पढ़ लें।" भागवत पढ़ने का मतलब है उसका ज्ञान जीवन में उतार लेना। जब उस भगवान् को छोड़ शेष सब कुछ मिथ्या है, तब कौन किसको भागवत सुनाए और क्यों सुनाए? ऐसा विचार कर वह राजा के पास फिर नहीं गया। बहुत दिनों तक जब ब्राह्मण फिर से नहीं आया, तो राजा ने उसकी खोज करवायी। उसका पता चलने पर राजा स्वयं उसके पास गया और अभिवादन कर प्रार्थना की, "पण्डितजी! अब मुझे भागवत सुनाएँ। अबकी आपने ठीक ठीक भागवत पढ़ा है!"

तो, जो उस आत्मतत्त्व को यथार्थतः जान लेता है, वह चुप हो जाता है। उसकी उपदेश देने की इच्छा अपने आप नष्ट हो जाती है। वे तो विरल ही होते हैं जिनके भीतर भगवान् उपदेश देने की प्रेरणा भरते हैं। ऐसे लोग उस आत्मतत्त्व की एक मोटी रूपरेखा मात्र प्रस्तुत किया करते हैं। जिसे शास्त्र 'नेति नेति'——यह नहीं, यह नहीं——कहकर पुकारते हैं, उसे भला कौन बता सकता है?

आत्मा का वर्णन करने का मतलब है उसकी एक कल्पना, एक स्थूल धारणा सामने रखना। उस उच्चतम सत्य को आज तक कोई बता नहीं सका। श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं--"दुनिया की सारी चीजें जूठी हो गयीं, सारे शास्त्र जूठे हो गये, पर ब्रह्म जूठा नहीं हुआ?" इसका तात्पर्य यही है कि शास्त्रों का उच्चारण मुँह से होने के कारण शास्त्र जूठे हो गये। जो भी ओठों से छू गया, वही जूठा हो गया। दुनिया की सारी चीजें ओठों से छुआ जाती हैं, पर आज तक कोई मुँह से बोलकर यह न बता सका कि ब्रह्म कैसा है; इसलिए एकमात्र ब्रह्मतत्त्व ऐसा है, जो जूठा नहीं हुआ। भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के जीवन की एक घटना सत्य के इस पक्ष पर विलक्षण प्रकाश डालती है।

एक दिन श्रीरामकृष्ण देव ने भक्तों से कहा, "आओ, आज तुम लोगों को षट्–चक्र भेदन की बात बताऊँ।" योग शास्त्र में कुण्डलिनी-शक्ति की बात है। योगी ऐसा मानते हैं कि मेरुदण्ड के बीच सुषुम्ना–नाड़ी स्थित है और उसमें छह चक्र विद्यमान हैं। शरीरशास्त्री इस सुषुम्ना-वर्त्म को Canal centralis (मध्यपथ) कहकर पुकारते हैं। उनकी दृष्टि में इस सुषुम्ना-नाड़ी का कोई उपयोग नहीं। यह नाड़ी मस्तिष्क से लेकर मेरुदण्ड के बीच में से होकर उसके अन्तिम भाग में अवस्थित 'मूलाधार' नामक मेरुचक्र तक विद्यमान है। षट्चक्रों में 'मूलाधार' सबसे नीचे का चक्र है। दूसरा चक्र है 'स्वाधिष्ठान,' जो लिंग-मूल में अवस्थित है। उससे ऊपर नाभिस्थल में 'मणिपुर'

नामक तीसरा चक्र विद्यमान है। चौथा चक्र 'अनाहत' कहलाता है, जो उससे ऊपर हृदय में अवस्थित है पाँचवाँ चक्र 'विशुद्ध' कण्ठ में तथा छठा चक्र 'आज्ञा' दोनों भौंहों के मध्य भाग में विद्यमान है। उससे भी ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में 'सहस्रार' की अवस्थिति है, जहाँ कुण्डलिनी के पहुँचने पर जीवात्मा और परमात्मा का योग हो जाता है और साधक निर्विकल्प समाधि में सत्व के साथ एक रूप हो जाता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि उपर्युक्त छहों चक्र मेरुदण्ड के मध्यदेश सुषुम्ना मार्ग में ही अवस्थित हैं। नाभि, हृदय, कण्ठ आदि शब्दों को सुन ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि ये चक्र इन-इन स्थानों में विद्यमान हैं, प्रत्युत हृदय से समझना चाहिए, हृदय के ठीक पीछे मेरुदण्ड के सुषुम्ना मार्ग में जो बिन्दु बनेगा, वह। उसी प्रकार, कण्ठ से यह तात्पर्य लेना चाहिए, कण्ठ के ठीक पीछे मेरुदण्ड के सुषुम्ना पथ में जो बिन्दु बनेगा, वह। इसी प्रकार, नाभि से वह बिन्दु समझना चाहिए, जो नाभि से ठीक विपरीत दिशा में सुषुम्ना मार्ग में अवस्थित है।

कुण्डलिनी शक्ति का अर्थ है वह शक्ति, जो कुण्डली मारकर बैठी हुई है, अर्थात् सुप्त है। सर्प जब निश्चल होता है, तब कुण्डली मारकर ही बैठा होता है। सर्प की तुलना से ही इस सुप्त शक्ति को 'कुण्डलिनी शक्ति' कहकर पुकारते हैं, क्योंकि जब यह शक्ति जागती है, तो तिर्यक् के समान ही गतिशील होती है। हमारे ऋषि एवं

योगीजन कहते है कि जब मनुष्य अच्छे या बुरे कर्म करता हैं, तो ये कर्म एकदम नष्ट नहीं हो जाते, वल्कि सूक्ष्म संस्कार में परिणत होकर विद्यमान रहते हैं। पाश्चात्य शरीरशास्त्री कहते हैं कि भले या बुरे कर्म मनुष्य के मस्तिष्क में एक छाप अंकित कर देते हैं और ऐसी छापों की समष्टि ही व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करती है। भारत के योगीजन भी यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य के अच्छे या बुरे कर्म उसके मस्तिष्क पर छाप अंकित कर देते हैं, पर वे यह नहीं मानते कि उसके बाद ये कर्म समाप्त हो जाते हैं; वे तो कहते हैं कि ये भले या बुरे कर्म संस्कार बनकर सूक्ष्म प्रेरणाशक्ति के रूप में सुषुम्ना के मूल में अर्थात् मेरुदण्ड के अन्तिम सिरे में अवस्थित 'मूलाधार,' नामक चक्र में अवस्थित होते हैं। संचित संस्कारों की इसी समष्टि को योगशास्त्र ने 'कुण्डलिनी शक्ति' कहकर पुकारा है। योगी इस सुप्त शक्ति को जगाकर, सुषुम्ना-पथ से उसे ऊपर चढ़ाकर, एक एक चक्र का भेदन करते हुए सहस्रार में लाकर उसे लीन कर देना चाहता है। इसमें सिद्धि प्राप्त करना ही श्रीभगवान् के साक्षात्कार होने की अवस्था है। इसी को निर्विकल्प समाधि भी कहते हैं। इस अवस्था को प्राप्त होने पर ही इन संचित संस्कारों का नाश होता है, अन्यथा एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते समय जीव संस्कारों की इस पोटली को भी 'वायुर्गन्धानिवाशयात्' की तरह अपनी

बगल में दबाकर ले जाता है।

स्वामी सारदानन्दजी अपने 'श्रीश्रीरामकृष्णलीला-प्रसंग' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में लिखते हैं--

"योगियों का कथन है कि मस्तिष्क के मध्य स्थित ब्रह्मरन्ध्र के अवकाश या आकाश में अखण्ड सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा या श्रीभगवान् की ज्ञान-स्वरूप में अव-स्थिति है। उनके प्रति इस कुण्डलिनी शक्ति का विशेष अनुराग है, या यों कहना चाहिए कि श्रीभगवान् उसे निरन्तर अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। किन्तु जाग्रत् न रहने के कारण कुण्डलिनी शक्ति को उस आकर्षण का अनुभव नहीं हो रहा है। जाग्रत् होते ही वह इस आकर्षण का अनुभव करने लगेगी और उनके समीप पहुँच जायगी। इस तरह कुण्डलिनी शक्ति के श्रीभगवान् के समीप पहुँचने का मार्ग भी हममें से प्रत्येक के शरीर में विद्यमान है। उस मार्ग को ही योगशास्त्र में 'सुषुम्नावर्त्म' कहा गया है। ... उसी मार्ग से कुण्डलिनी पहले परमात्मा से वियुक्त होकर मस्तिष्क से मेरुचक्र या मूलाधार में आकर निद्रित हुई है। पुनः उसी मार्ग से वह मेरुदण्ड के बीच में से क्रमशः ऊपर की ओर अवस्थित छह चक्रों का अतिक्रमण कर अन्त में मस्तिष्क में आकर उपस्थित होती है। कुण्ड-लिनी जाग्रत् होकर जैसे ही एक चक्र से दूसरे में उपस्थित होती है, वैसे ही जीव को एक एक प्रकार की अभूतपूर्व उपलब्धि होती जाती है तथा उक्त क्रम से ज्योंही वह मस्तिष्क में पहुँचती है, त्योंही जीव को धर्म-जीवन की चरम उप-

लब्धि, अथवा अद्वैत ज्ञान की भाषा में, 'कारणं कारणानाम्' उस परमात्मा के साथ तन्मयता की अनुभूति होती है।"

ऐसी सुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के कुछ शास्त्रीय उपाय हैं, और जब कुण्डलिनी जागकर एक एक चक्र का भेदन करते हुए ऊपर उठती है, तो उसकी कुछ विशिष्ट कसौटियाँ हैं। श्रीरामकृष्ण देव अपने भक्तों को सब कुछ वता देना चाहते हैं। वे कुछ भी गोपनीय नहीं रखना चाहते। तभी तो वे भक्तों से कहते हैं, "आओ, आज तुम लोगों को षट्चक्र भेदन की वात वताऊँ।" और वे बताते भी हैं, "देखो, कोई चीज सर-सर करती हुई पैर से चलकर माथे में पहुँच जाती है। जब तक वह माथे में नहीं पहुँचती, तव तक होश बना रहता है; और ज्योंही वह माथे में पहुँच जाती है, तत्काल मेरा वाह्य ज्ञान चला जाता है। उस समय जब कुछ देखना-सुनना ही सम्भव नहीं, तो ऐसी स्थिति में वार्तालाप की बात ही क्या ? वार्तालाप हो ही कैसे सकता है ? तव तो 'मैं' 'तुम' का बोध ही लुप्त हो जाता है। मैं तो चाहता हूँ कि तुम लोगों से सब कुछ कह दूँ——उसके उठते समय जो दर्शनादि मुझे प्राप्त होते हैं, उनका पूर्ण विवरण दे दूँ। जव तक वह (अपने हृदय तथा कण्ठ को दिखाकर) यहाँ तक या इस सीमा तक उठती है, तब तक वार्तालाप किया जा सकता है तथा मैं भी वातचीत करता रहता हूँ, किन्तु जैसे ही वह (अपने कण्ठ को दिखाते हुए) यहाँ से आगे वढ़ने लगती है, उस समय मानो कोई मेरे मुँह को इस तरह दवा

देता है कि मैं कुछ भी कह नहीं पाता और मेरा बाह्य ज्ञान चला जाता है--अपने को फिर मैं सम्हाल नहीं पाता ! (अपने कण्ठ को दिखाकर) यहाँ से ऊपर उठने पर मुझे जो दर्शनादि होते हैं, उनका वर्णन करने का ज्योंही मैं विचार करता हूँ त्योंही मेरा मन ऊपर चढ़ जाता है--फिर कुछ भी कहना सम्भव नहीं हो पाता !"

श्रीरामकृष्ण देव भक्तों को कुण्डलिनी शक्ति के सभी रहस्य बताते हैं, पर जब वे छठे एवं अन्तिम चक्र के भेदनोपरान्त होनेवाली आत्मानुभूति का वर्णन करने को प्रस्तुत होते हैं, तो समाधिस्थ हो जाते हैं। बारम्बार प्रयास करने पर भी जब वे अपने इस प्रयास में सफल नहीं होते, तब उनके नेत्रों में आँसू भर आते हैं और वे भक्तों से कहते हैं, "अरे, मैं तो सब कुछ कहना चाहता था, कुछ भी छिपाने की मेरी इच्छा नहीं थी, किन्तु माँ ने मुझे कुछ भी कहने न दिया--मेरा मुँह पकड़ लिया !" यह श्रीरामकृष्ण देव की लाक्षणिक भाषा है। जिस तत्त्व को वेद-वेदान्त भी नहीं बता सकते, 'नेति' 'नेति' कहकर जिसका निर्वाचन करते हैं, उसे श्रीरामकृष्ण देव भला कैसे बताएँ ! वे अपनी इस असमर्थता को किन सुन्दर भक्ति-भाव भरे शब्दों में व्यक्त करते हैं,-- "जगन्माता मेरा मुँह पकड़ लेती हैं !" इसके बावजूद वे जो कुछ बताते हैं, वह आश्चर्य-वक्ता की श्रेणी की ही बात है। कठोपनिषद् के ऋषि भी ऐसे प्रसंग पर विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं (१/२/७)--

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य:
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्यु:।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-
श्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्ट: ॥

--'जो बहुतों को तो सुनने के लिए भी प्राप्त होने योग्य नहीं है, जिसे बहुत से सुनकर भी नहीं समझते, उस आत्मतत्त्व का निरूपण करनेवाला भी आश्चर्यरूप है उसको प्राप्त करनेवाला भी कोई निपुण पुरुष ही होता है तथा कुशल आचार्य द्वारा उपदेश किया हुआ ज्ञाता भी आश्चर्यरूप है।'

तो, आत्मा का दृष्टा आश्चर्यरूप तथा उसका वक्ता भी आश्चर्यरूप। साथ ही जो उसका श्रोता है, वह भी आश्चर्यरूप ही है। ऐसे गूढ़ आत्मतत्त्व को जो ठीक ढंग से सुन ले तथा सुनकर उसे जान ले, ऐसा श्रोता आश्चर्यरूप ही होगा। बँगला में एक कहावत है, जिसका भावार्थ यह होगा--

गुरु कृष्ण वैष्णव तीन की दया हुई।
एक की दया बिना जीव की दुर्गति हुई॥

यह 'एक' है जीव का अपना मन। कृष्ण कृपा कर दें, अर्थात् भगवान् की उस पर कृपा हो, गुरु भी कृपादृष्टि रखें और भगवान् के भक्त वैष्णवजन भी उस पर कृपा की वर्षा करते रहें, पर यदि उसका अपना मन उस पर कृपा न करे, तो उसकी दुर्गति अवश्यम्भावी है। अत: ऐसे मन को सावधान करके उसकी कृपा पाकर, जो आत्म-

तत्त्व का श्रवण करे और उसे जान ले, ऐसा श्रोता तो आश्चर्यरूप ही होगा।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को आत्मा की विलक्षणता का उपदेश देकर पुनः इस बात पर जोर देते ह कि चूंकि शरीर का ही वध हो सकता है, आत्मा का नहीं, इसलिए शरीर के लिए रोना और शोक करना उचित नहीं। शरीर तो सबके मरेंगे, पर शरीरी आत्मा का कभी भी नाश नहीं होगा, यह ज्ञान शोक से हमारी रक्षा करेगा।

अर्जुन के मन में दो शंकाएँ उठी थीं। पहली तो यह कि भीष्म आदि स्वजनों और द्रोण आदि गुरुजनों के वियोग से दुःख होगा और दूसरी यह कि इनके मारने से मुझे पाप होगा। अब तक प्रथम शंका का ही समाधान करते हुए बताया गया है कि शोक करना उचित नहीं है। पर दूसरी शंका का समाधान क्या है ? मान लिया कि आत्मा नित्य है और शरीर अवश्यम्भावी रूप से विनाशी है, तो इसका क्या यह मतलब ले लिया जाय कि शरीर को चाहे जब समाप्त कर दें ? यदि ऐसा हो, तो शास्त्रों में हिंसा को जो पाप कहा है और उसके फलस्वरूप नरक की प्राप्ति बताई गयी है, उसका फिर क्या होगा ? यदि कहो कि आत्मा नित्य है, इसलिए हिंसा में कोई पाप नही तो शास्त्रों में हिंसा का इतना निषेध फिर क्यों है ? यदि कहो कि शास्त्रों के विधि-निषेध व्यवहार-दशा मे लागू होते हैं, पूर्ण ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर नहीं——जैसा कि कहा

है, 'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः', अर्थात् प्रकृति के गुणों से जो मुक्त होकर ऊपर चला गया, उसके लिए क्या विधि और क्या निषेध ? तो इसके उत्तर में अर्जुन सोच सकता है कि मैं तो अभी व्यवहार-दशा में ही हूँ, मैं अभी निस्त्रैगुण्य हुआ नहीं, शोक-मोहादि से घिरा हुआ हूँ, अतः मुझ पर विधि-निषेध अवश्य लागू होंगे, तब ऐसी प्रबल हिंसा के पाप से मैं कैसे बच सकूँगा ? अर्जुन की इसी शंका को दूर करने के लिए भगवान कृष्ण 'स्वधर्म' का आख्यान करते हैं, जिसे हम अगली वार समझने का प्रयास करेंगे।

•

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

(अमेरिका के एथेन्स बोस्टन में)

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

न्यूयार्क में बारह दिन व्यतीत कर स्वामीजी बोस्टन जाने के लिए प्रस्तुत हुए। बोस्टन के कार्यक्रम की जानकारी देते हुए उन्होंने प्राध्यापक राइट को लिखा था, "मैं रविवार (६मई) को बोस्टन में रहूँगा। सोमवार को श्रीमती ह्वो के महिला-क्लब में मेरा व्याख्यान होगा...।" यथासमय स्वामीजी बोस्टन पहुँचे। पर इस समय वे प्राध्यापक राइट के यहाँ न ठहर एक होटल में ठहरे, क्योंकि राइट-दम्पति एनिस्क्वाम जाने की तैयारी में लगे थे, जहाँ वे बहुधा अपनी गरमी की छुट्टी मनाया करते थे। स्वामीजी ने बोस्टन और हार्वर्ड में कुल मिलाकर छह व्याख्यान दिये। उन्होंने पहला व्याख्यान ७ मई को श्रीमती ह्वो के महिला-क्लब में, दूसरा ८ मई को रैडक्लिफ महिला महाविद्यालय में और तीसरा १० मई को श्री कॉलिज के घर में दिया। इन तीनों व्याख्यानों का विशेष विवरण समाचार-पत्रों में प्राप्त नहीं होता, किन्तु चौथे और पांचवें व्याख्यान की सूचना १२ मई को 'बोस्टन ट्रान्सक्रिप्ट' में इस प्रकार प्रकाशित हुई—

व्याख्यान सूचना

मिस्टर सुआमी विवेकानन्द सोमवार की शाम को 'टाइलर स्ट्रीट डे नर्सरी' के सहायतार्थ 'भारत के रीति-रिवाज' पर एक व्याख्यान एसोसियेशन हाल में देंगे।

आगामी बुधवार को मिस्टर सुआमी विवेकानन्द 'वार्ड

सिक्सटीन डे नर्सरी' के सहायतार्थ 'भारत के धर्म' पर एसोसियेशन हाल में भाषण देंगे। इसके अन्तर्गत वे 'मूर्तिपूजा और बुतपरस्ती में भेद,' 'देववाद की विभिन्न भारतीय धारणाएँ,' तथा 'प्राचीन भारतीय दार्शनिकों के चिन्तन' पर प्रकाश डालेंगे।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि स्वामीजी स्वयं भारत के लिए अर्थसंग्रह करने हेतु कार्यरत थे, पर उन्होंने अमेरिका की विभिन्न संस्थाओं के सहायतार्थ भी भाषण दिये थे, जैसा कि ऊपर प्रस्तुत सूचना से ज्ञात होता है। उनका उदार हृदय समान भाव से सबकी सहायता के लिए सदा उन्मुख था। जहाँ भी वे मानवता के उत्थान का प्रयास देखते, उसमें हाथ बटाने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते।

'टाइलर स्ट्रीट डे नर्सरी' के सहायतार्थ १४ मई को प्रदत्त व्याख्यान का विवरण 'बोस्टन ईवनिंग ट्रान्सक्रिप्ट' और 'बोस्टन हेराल्ड' के १५ मई के अंक में समान रूप से प्रकाशित हुआ। "बोस्टन हेराल्ड' लिखता है--

'भारत के धर्म' † पर ब्राह्मण संन्यासी स्वामी विवेकानन्द का भाषण सुनने के लिए एसोसियशन हाल महिलाओं से खचाखच भरा था। यह व्याख्यान 'वार्ड सिक्सटीन डे नर्सरी'‡ के लाभार्थ था। पिछले वर्ष के शिकागो की भाँति बोस्टन में भी लोग उनके पीछे पागल हो गये हैं। अपने गम्भीर, सच्चे और सुसंस्कृत व्यवहार से उन्होंने बहुतों को अपना मित्र बना लिया है।

उन्होने कहा, "भारत देश विवाह को प्राथमिकता नही देता,

† वास्तव में विषय था 'भारत के रीति-रिवाज'।

‡ वास्तव में 'टाइलर स्ट्रीट डे नर्सरी'।

इसलिए नहीं कि हम नारी जाति से घृणा करते हैं, वरन् इसलिए कि हमारा धर्म महिलाओं को पूज्य मानने की शिक्षा देता है। हिन्दू को शिक्षा दी जाती है कि वह प्रत्येक स्त्री को अपनी माता समझे। कोई पुरुष अपनी माता से विवाह नहीं करना चाहता। ईश्वर हमारे लिए माँ है। हम स्वर्गस्थ ईश्वर के बारे में जरा भी परवाह नहीं करते। वह तो हमारे लिए माता हैं। हम विवाह को एक निम्न, संस्कारहीन अवस्था समझते हैं, और यदि कोई व्यक्ति विवाह करता ही है, तो वह इसलिए कि धर्मकार्य में सहायता हेतु उसे एक सहचरी की आवश्यकता है।

"तुम कहते हो कि हम अपनी महिलाओं के प्रति दुर्व्यवहार करते हैं। संसार के किस राष्ट्र ने अपनी महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार नहीं किया ? यूरोप या अमेरिका में पुरुष धन के लिए महिला से विवाह कर सकता है और उसके डालरों को हथिया उसे लात जमाकर निकाल बाहर कर सकता है ! इसके विपरीत, भारत में जब कोई स्त्री धन के लोभ में किसी पुरुष से विवाह करती है, तो शास्त्रों के अनुसार उसकी सन्तानों को दास समझा जाता है। और जब कोई धनी पुरुष किसी स्त्री से विवाह करता है, तो उसका सारा रुपया-पैसा पत्नी के हाथ में चला आता है, जिससे यह बहुत कम सम्भव होता है कि वह अपने खजाने की स्वामिनी को घर से बाहर निकाल सके।

"तुम कहते हो कि हम लोग काफिर हैं, अशिक्षित और असभ्य हैं, पर इस प्रकार की बातें कहने में तुममें शिष्टता का अभाव देख हमें हँसी आती है। हमारे यहाँ जाति, गुण और जन्म के आधार पर बनती है, धन के आधार पर नहीं। तुम्हारे पास कितनी भी दौलत क्यों न हो, उससे भारत में कोई उच्चता प्राप्त नहीं होगी। समाज में सबसे गरीब और सबसे धनी बराबर माने जाते हैं, और यह उसकी श्रेष्ठ विशेषताओं में से एक है।

"धन ने ही संसार में युद्ध को जन्म दिया है, धन के कारण

ईसाइयों ने एक दूसरे को पावों-तले कुचला है। धनियों ने द्वेष, घृणा और लोभ को पैदा किया है। यहाँ तो बस काम ही काम और धक्कम-धुक्का है। जातिप्रथा मनुष्य को इन सबसे बचाती है। इसी के कारण यह उसके लिए संभव है कि वह कम धन में जीवन-यापन कैसे कर सकती है। इससे सबको रोजगार मिलता है। वर्ण-धर्म माननेवाले व्यक्ति को आत्म-चिन्तन के लिए समय मिलता है। और भारतीय समाज में हमें यही अभीष्ट है।..."

उन्होंने आगे कहा, "जब तुम मेरे धर्म के बारे में अपना निर्णय देते हो, तब यह मान लेते हो कि तुम्हारा धर्म पूर्ण है और मेरा दोषयुक्त। और जब तुम भारत के समाज की आलोचना करते हो, तो जहाँ तक यह तुम्हारे मापदण्ड से मेल नहीं खाता, उसे संस्कारहीन मान लेते हो। यह मूर्खतापूर्ण है।"

शिक्षा के सन्दर्भ में वक्ता महोदय ने कहा कि भारत में शिक्षित व्यक्ति आचार्य बनते हैं और उनसे कम शिक्षित पुरोहिती का कार्य करते हैं।

१५ मई को स्वामीजी का कार्यक्रम बोस्टन से २५ मील दूर लारेन्स शहर में आयोजित था, जहाँ उन्होंने महिला-क्लब में 'भारत के सामाजिक और धार्मिक आचार' पर वक्तृता दी।

बोस्टन लौटकर उन्होंने १६मई को दो व्याख्यान दिये। पहला व्याख्यान 'भारत के धर्म' पर था, जो दिन में ३।। बजे रखा गया था, जिससे व्यापारी-वर्ग भी उसका लाभ उठा सके। इस व्याख्यान में स्वामीजी ने भारत में प्रचलित मुख्य धर्मों की तात्त्विक व्याख्या प्रस्तुत की। इस्लाम, बौद्ध, पारसी और जैन धर्म की विशिष्टता

प्रतिपादित करते हुए उन्होंने सर्वाधिक प्राचीन हिन्दू धर्म की सार्वभौमिकता पर गहन प्रकाश डाला।

रात्रि के आठ बजे उन्होंने हार्वर्ड विश्वविद्यालय में 'हार्वर्ड रिलिजस यूनियन' के तत्त्वावधान में दूसरा व्याख्यान दिया, जो 'हार्वर्ड क्रिमसन' के १७ मई के अंक में प्रकाशित हुआ था।

भले ही स्वामीजी के प्रथम तीन व्याख्यानों का विवरण बोस्टन के समाचार-पत्रों में प्राप्त नहीं होता, पर उसकी झलक श्रीमती राइट की डायरी में वर्णित पृष्ठों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। ८ मई को महिला महाविद्यालय में हुए व्याख्यान के बारे में श्रीमती राइट ने शनिवार १२ मई को लिखा था--

मंगलवार (८ मई) को विवेकानन्द ने एनेक्स (महिला महाविद्यालय) के सम्मुख अपने धर्म के बारे में व्याख्यान दिया, जो अत्यन्त कवित्वमय और श्रद्धापूरित था तथा ऐसी गम्भीर भावनाओं से युक्त था कि सहज ही लोगों को क्षणभर के लिए मतान्तरित करने की क्षमता रखता था। कुछ महिलाओं के चेहरे, जिन पर गम्भीरता की छाप नहीं थी, एकाग्र और संयत हो गये थे और ऐसा लगता था कि वे पूर्ण मनोयोग से वक्ता को समझने का भरसक प्रयास कर रही हैं। पर जब उन्होंनें हमारे दोषों को गिनाना शुरू किया और हमारी गलतियों और अपराधों की ओर दृष्टि आकर्षित की, तो वे कुछ नीची सतह पर उतर आये। महिलाएं हंसने लगीं, पर यह हंसी चुभनखायी खिसियानी हंसी थी।

उन्होंने कहा, "भारत में उच्च वर्ण की विधवाएं विवाह नहीं करतीं। केवल निम्न वर्ग की विधवाएं ही विवाह कर सकती हैं,

वे खान-पान और आमोद-प्रमोद में भाग ले सकती हैं तथा चाहे जितने पति बना और छोड़ सकती हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि वे उन सारी सुख-सुविधाओं का आनन्द उठाती हैं, जो इस देश के सर्वोच्च समाज को प्राप्त है।" यह सुन हम हँसने लगीं..।

१० मई, गुरुवार को विवेकानन्द ने बोस्टन में श्री कॉलिज के घर गोलमेज बैठक में भाषण दिया उन्होंने पुनः अमरीकनों पर फब्तियाँ कसकर आनन्द उठाया। उनकी फब्तियाँ हास्यरस से पूर्ण, तीक्ष्ण और कटु थीं तथा कौशल के साथ प्रसंगानुकूल छोड़ी गयी थीं। किन्तु व्यक्ति में प्रकट करने लायक और भी श्रेष्ठ विचार थे। वे अपनी पीली पगड़ी और लाल पोशाक में बड़े आकर्षक जँच रहे थे। उनकी वाणी बड़ी गरिमायुक्त थी। अमेरिका की कुबेरशाही, अनैतिकता तथा धर्महीनता की उन्होंने अच्छी खबर ली।

वे बोले, "जब हम भारतीयजन धर्मान्ध होते हैं, तो हम स्वयं को यन्त्रणा देते हैं, अपने को विशाल रथों के नीचे झोंक देते हैं, स्वयं का गला काटते हैं तथा काटों की सेज पर सोते हैं। पर जब तुम लोग धर्मान्ध होते हो, तो तुम दूसरों का गला काटते हो उनको आग में जलाकर सताते हो तथा उन्हें काँटों की सेज पर सुलाते हो, पर खुद की चमड़ी बचाने के लिए तुम बड़े सावधान रहते हो!"

ये दो टूक बात थी, जिसने श्रोताओं को तिलमिला दिया था। जहाँ स्वामीजी ने सभ्यता और संस्कृति के नाम पर भोग-विलास और लिप्सा का नग्न नर्तन देखा, उन्होंने चोट करने में कोई कसर नहीं की। धर्म के नाम पर रक्तपात, संस्कृति के नाम पर अनैतिकता और सभ्यता के नाम पर आडम्बरयुक्त जीवन उन्हें कतई

सहन नहीं होता था और इसलिए वे वाणी से निर्मम प्रहार करने में जरा भी नहीं हिचकिचाते थे। जो विवेकी थे, अपनी खामियों और कमजोरियों से वाकिफ थे, उनके लिए स्वामीजी की वाणी संसार के थोथेपन का उद्घाटन करती, उन्हें आत्म-चिन्तन और आत्म-परीक्षण के लिए प्रेरित करती तथा उनमें नवजीवन का उन्मेष भरती थी। वे तो क्रान्तिद्रष्टा मनीषी थे। आत्मा के महिमामण्डित स्वरूप में प्रतिष्ठित थे। लोगों को इस सारहीन भौतिक संसार के प्रति आसक्त और मोहाविष्ट देख उनका हृदय व्यथित हो उठता था। अपने अन्तर में अवस्थित उस सर्वांग-सुन्दर अनन्त आनन्दमय सत्यस्वरूप परमात्मा को भूल, हाड़-मांस-रुधिर-मज्जा जैसे घृणित नश्वर अवयवों से निर्मित इस भौतिक देह के प्रति लोगों को घोर आसक्त देख वे क्षोभ और करुणा से पूरित हो उठते। ऐसे भौतिकवादी लोगों के बीच आध्यात्मिकता का पाठ, पढ़ाना उन्हें अरण्य–रोदन सा प्रतीत होता। वे क्षुब्ध हो उठते और तब उनकी वाणी से मानो स्फुलिंग झरने लगते, वे बड़ी निर्ममता से उनकी भौतिकवादी विचार-धारा पर प्रहार करने लगते। बोस्टन की ही बाद की एक घटना है—

उनसे अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण के बारे में कुछ कहने के लिए कहा गया। विशाल श्रोतृमण्डली उन्हें सुनने को उत्सुक थी। वे बोलने के लिए उठे। उनकी दृष्टि सामने बैठे हुए नरनारियों के विशाल समुदाय पर

पड़ी । श्रोताओं के चेहरों से झाँकती हुई घोर सांसारिकता और भोगलिप्सा देख वे विरक्त हो उठे । कहीं भी उन्हें आध्यात्मिक चेतना अथवा जिज्ञासा के भाव परिलक्षित नहीं हुए । कहाँ त्याग और वैराग्यके ज्वलन्त विग्रह श्रीरामकृष्ण और कहाँ यह भोगपरायण जनसमुदाय, जिसके सन्मुख उन्हें ऐसे पवित्र चरित्र की चर्चा करनी है ! यह तो भैंस के आगे बीन बजाना है । वे विक्षुब्ध हो उठे और उनकी वाणी से मानो विद्युल्लता कौंधने लगी । पाश्चात्य संस्कृति और उसकी खोखली सभ्यता पर उन्होंनें धुआँधार प्रहार करना शुरू किया । उन्होंने उनके आडम्बरपूर्ण जीवन की, स्वार्थपरता की, सभ्यता के नाम पर व्याप्त दुश्चरित्रता की, धर्म के नाम पर होनेवाले बलात् धर्मान्तरण की खुले शब्दों में आलोचना की । उनकी मर्मभेदी बातों से तिल-मिला सैकड़ों व्यक्ति बीच में ही हाल छोड़कर जाने लगे । पर वे अन्त तक पाश्चात्य सभ्यता कें खोखलेपन का पर्दाफाश करते रहे । अपनें गुरुदेव के बारे में उनकी कुछ भी बोलने की इच्छा नहीं हुई । बाद में उन्हें स्वयं को अपनी इस आलोचना पर दुख हुआ था; वह इसलिए कि उनके गुरुदेव ने अपने जीवन भर किसी की तनिक सी भी आलोचना नहीं की और आज उन्हीं के बारे में चर्चा करते हुए उन्हें लोगों की आलोचना करनी पड़ी ।

दूसरे दिन के समाचार-पत्र उनके प्रति आलोचना से मुखर थे । अवश्य कुछ पत्रों ने उनकी स्पष्टवादिता और निर्भीकता की प्रशंसा की थी, पर अधिकांश ने उन

पर कटु आक्षेप किये। उनके विरोधियों को उनके विरुद्ध दुष्प्रचार का और अवसर मिल गया। उनका स्वामीजी को हानि पहुँचाने का कार्य तो भीतर ही भीतर बहुत तेजी पर था ही, अब वे खुले रूप से उन्हें बदनाम करने का प्रयास करने लगे। उधर भारत में प्रतापचन्द्र मजूमदार का स्वामीजी के विरुद्ध अनर्गल दूषित प्रचार जोरों से चल रहा था। फिर, भारत से उनके प्रति सहानुभूति का एक शब्द न था। फलतः मई और जून के दो महीने स्वामीजी के लिए अत्यन्त यन्त्रणापूर्ण सिद्ध हुए। इस अवधि में किस मर्मान्तिक पीड़ा में से उन्हें गुजरना पड़ा यह हम आगे चलकर देखेंगे।

(क्रमशः)

•

मेरा जीवन सत्य के लिए है। सत्य कभी भी मिथ्या के साथ मेल नहीं करेगा। यहाँ तक कि, यदि सारी दुनिया भी मेरे विरोध में खड़ी हो जाय, तो भी अन्त में सत्य की ही विजय होगी।

—स्वामी विवेकानन्द

प्रश्न — मैं जब ध्यान के लिए बैठता हूँ, तो अधिक देर तक एक ही आसन में नहीं बैठ पाता। थोड़ी ही देर में शरीर चचल होने लगता है। क्या लेटकर ध्यान किया जा सकता है? शरीर की चंचलता दूर कैसे की जा सकती है?

— एस. सी. शर्मा, भोपाल

उत्तर — यदि आप साधना में निष्ठा रखते हैं, तो लेटकर ध्यान करने की बात छोड़ दीजिए। ध्यान का अभ्यास बैठकर ही किया जाना चाहिए। इस प्रकार बैठना चाहिए कि रीढ़ की हड्डी, गला और सिर एक सीध में रहें। न तो हम अधिक अकड़कर बैठें, और न पीठ झुकाकर। सहज रूप से सीधे बैठें। यदि हम कुछ समय तक एक ही आसन में बैठे रहने का अभ्यास करें, तो धीरे धीरे आसन सधने लगता है। कुछ प्रारम्भिक प्राणायाम का अभ्यास हमें आसन को सिद्ध करने में सहायक होता है। हम नाक से जोरों से साँस अन्दर खींचें और मुँह से निकाल दें। थोड़ो देर तक ऐसा करने से शरीर की चचलता अपने आप कम होने लगती है।

प्रश्न — क्या आध्यात्मिक जीवन में प्रगति लाने के लिए ब्रह्मचर्य धारण करना आवश्यक है ?

— सुखमय चटर्जी, वाराणसी

उत्तर – हाँ, क्योंकि ब्रह्मचर्य ही आध्यात्मिक जीवन का आधार है। ब्रह्मचर्य-धारण का अर्थ है वीर्य-रक्षा। वीर्य रक्षित होने से सुपुष्ट होता है और 'ओजस्' में परिवर्तित होता है। शरीर में 'ओजस्' जितना बढ़ेगा, स्नायुओं की अनुभव-क्षमता उतनी ही बढ़ेगी। आध्यात्मिक अनुभूतियाँ सूक्ष्म और तीव्र हुआ करती हैं। सामान्य दशा में हमारे स्नायु इन अनुभूतियों की तीव्रता को नहीं सह सकते। ब्रह्मचर्य-धारण इन स्नायुओं की क्षमता को बढ़ाकर अनुभूतियों के वेग को सहने की शक्ति देता है। यदि मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन न करे, और आध्यात्मिक उन्नति के लिए सहसा साधना शुरू कर दे, तो उसके शरीर और मन में विकार पैदा होने की बड़ी सम्भावना बनी रहती है। कई लोग अपने मस्तिष्क का संतुलन खो बैठते हैं। वैवाहिक जीवन में यदि उचित संयम बरता जाय, तो वह भी ब्रह्मचर्य का पालन ही कहलाएगा। पर जिसे हम अपरोक्ष आध्यात्मिक जीवन कहते हैं, जिसमें हम कुण्डलिनी शक्ति को जगाने की साधना करते हैं, वहाँ तो कडाई से ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य है। वहाँ किसी प्रकार के समझौते की गुंजाइश नहीं।

प्रश्न – बुद्धि और हृदय के झगड़े में किसका अनुसरण करना चाहिए ? **– नरेन्द्र कुमार सिंह, नागपुर**

उत्तर – इस प्रश्न का दो टूक उत्तर नहीं दिया जा सकता। इस झगड़े के फैसले में महत्त्वपूर्ण मुद्दा यह है कि किस बात पर दोनों में झगडा हुआ है। एक स्थूल कसौटी यह बनायी जा सकती है कि जिसके पक्ष में स्वार्थ की मात्रा कम हो, उसका अनुसरण करना चाहिए। बहुधा हृदय निःस्वार्थता का प्रतीक है और बुद्धि स्वार्थपरता का ! तथापि जिस बात को लेकर झगड़ा पैदा हुआ हो, उसके संदर्भ में यह जाँचकर देखना चाहिए कि हृदय का पक्ष अधिक निःस्वार्थ है अथवा बुद्धि का। जो पक्ष निःस्वार्थता का पोषण करता हो, उसका अनुसरण करना चाहिए।

❋

मन्दिर प्रतिष्ठापन उत्सव

एवं

विवेकानन्द जयन्ती समारोह-१९७६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नवनिर्मित **श्रीरामकृष्ण मन्दिर** का प्रतिष्ठापन २ फरवरी १९७६ को रामकृष्ण संघ के परमाध्यक्ष पूज्यपाद **श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज** के करकमलों द्वारा सम्पन्न होने जा रहा है, जिसमें भाग लेने हेतु देश एवं विदेशों में स्थित रामकृष्ण संघ के विभिन्न केन्द्रों से सौ से भी अधिक साधु-महात्मागण पधार रहे हैं।

इसी के साथ, प्रतिवर्ष की भाँति, विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द जी का ११४ वाँ जयन्ती-महोत्सव भी आश्रम के प्रांगण में २३ जनवरी १९७६ से लेकर २९ फरवरी १९७६ तक निम्नोक्त कार्यक्रम के अनुसार मनाया जायगा, जिसका उद्‌घाटन गुरुवार, ५ फरवरी १९७६ को भारत के उपराष्ट्रपति, महामहिम **श्री बी० डी० जत्ती महोदय** के द्वारा सम्पन्न होगा।

कार्यक्रम सबके लिए खुला है, पर ८ वर्ष से छोटे बच्चों के लिए प्रवेश वर्जित है।

कार्यक्रम

★ शुक्रवार २३ जनवरी ★

स्वामी विवेकानन्द जन्म-तिथि उत्सव

मंगल आरती, प्रार्थना, ध्यान .. प्रातः ५॥ से ६॥ बजे तक।
भजन, हवन, पूजा एवं आरती .. सुबह ९॥ से ११॥ बजे तक।
सान्ध्य आरती, प्रार्थना, भजन .. सायंकाल ६ से ८ बजे तक।

★ शनिवार, २४ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–"इस सदन की राय में भारत के सही विकास के लिए भौतिक मूल्यों की अपेक्षा आध्यात्मिक मूल्यों पर अधिक बल देना कहीं ज्यादा श्रेयस्कर होगा ।"

★ रविवार, २५ जनवरी .. प्रातःकाल ८ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

★ रविवार, २५ जनवरी .. सायंकाल ५ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :– "स्वामी विवेकानन्द—पूर्व और पश्चिम के सेतु"

★ सोमवार, २६ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–"राष्ट्र-निर्माता विवेकानन्द"

★ मंगलवार, २७ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय:– "इस सदन की राय में शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य व्यवसाय नहीं, चरित्र होना चाहिए ।"

★ बुधवार, २८ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

★ गुरुवार, २९ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

माध्यमिक शाला पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता

(प्रथम दो श्रेष्ठ प्रतियोगियों को व्यक्तिगत पुरस्कार)

★ शुक्रवार, ३० जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :-"इस सदन की राय में विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता का कारण शारीरिक दण्ड का अभाव है।"

★ शनिवार, ३१ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :-"मुझे विवेकानन्द प्रिय क्यों हैं?"

मन्दिर प्रतिष्ठापन उत्सव

★ रविवार, १ फरवरी ★

अधिवास, मन्दिर संस्कार पूजा, विष्णु पूजा एवं विष्णु यज्ञ, वास्तु पूजा एवं वास्तु यज्ञ आदि।

★ सोमवार, २ फरवरी ★

मन्दिर में भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के श्री-विग्रह का प्रतिष्ठापन

पूज्यपाद **श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज**, परमाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन, के करकमलों द्वारा

★ सोमवार, २ फरवरी .. सायंकाल ६।। बजे

गीत रामायण

डा० अरुण कुमार सेन, प्राचार्य, कमला देवी संगीत महाविद्यालय, रायपुर एवं साथियों द्वारा

★ सोमवार, २ फरवरी .. रात्रि

श्रीकालीपूजा

* मंगलवार, ३ फरवरी .. सायंकाल ६।। बजे

दूर दूर से समागत साधु-महात्माओं के प्रवचन-उपदेश

★ बुधवार, ४ फरवरी .. सायकाल ६।। बजे

सर्व-धर्म-सम्मेलन

★ गुरुवार, ५ फरवरी . सायंकाल ६।। बजे

विवेकानन्द जयन्ती समारोह उद्घाटन

प्रमुख अतिथि : महामहिम श्री बी० डी० जत्ती

उपराष्ट्रपति, भारत

विषय :—"रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा का वैशिष्ट्य"

★ ६ से १५ फरवरी तक .. प्रतिदिन सायंकाल ६।। बजे

रामायण-प्रवचन

प्रवचनकार : पं० रामकिंकरजी महाराज

(भारत-प्रसिद्ध रामायणी)

★ १६ से २५ फरवरी तक .. प्रतिदिन { प्रात: ७ से ९।। बजे / सायं ५।। से ८ बजे }

श्रीमद्भागवत-तत्त्व-प्रकाश

(आनुष्ठानिक भागवत-प्रवचन)

प्रवचनकार : श्री अतुलकृष्णजी गोस्वामी

(भारत-प्रसिद्ध भागवती, वृन्दावन)

★ २६ से २९ फरवरी तक .. प्रतिदिन सायंकाल ६।। बजे

आध्यात्मिक प्रवचन

विषय :— "भारत के अध्यात्म का सन्देश"

प्रवचनकार : (१) **कुमारी सरोज बाला**

(२) **बालयोगी विष्णु अरोड़ा**

(२८ एवं २९ फरवरी को)

(३) **स्वामी आत्मानन्द**

अकाल सेवा कार्य

(१५ दिसम्बर, १९७५ तक की रपट)

स्मरणीय है कि छत्तीसगढ़ में पड़े भीषण सूखे के सन्दर्भ में आश्रम ने आज से एक वर्ष पूर्व ८ अक्तूबर, १९७४ को अकाल सेवा कार्य प्रारम्भ किया था, जिसकी रपट 'विवेक-ज्योति' के अंकों में लगातार प्रकाशित की जाती रही है। इस बीच ३३ गाँवों में कुओं की खोदाई का काम लिया गया। अब तक हुए राहत कार्यों की जानकारी निम्नलिखित तालिका से प्राप्त हो सकेगी —

१. हमारे तीन निःशुल्क भोजन-केन्द्रों से प्रतिदिन राशन प्राप्त करनेवाले अपाहिजों एवं निराश्रितों की सख्या ..	.. २,३००
२. आश्रम द्वारा संचालित राहत कार्यों से रोजी-रोटी प्राप्त करनेवाले मजदूरों की संख्या	.. ३,२००
३. आश्रम के इन राहत कार्यों के घेरे में आनेवाले गाँवों की संख्या ..	.. १४२
४. आठ तालाबों (कुल क्षेत्रफल ७७ एकड़) के निर्माण द्वारा सिंचाई-क्षमता में स्थायी वृद्धि (एकड़ों में)	.. ८६०
५. पक्के कुएँ खोदे गये	.. ३३
६. कुल व्यय (लगभग) ..	८ लाख रुपये

अभी १७ कुओं की खोदाई और होगी। इस प्रकार ५० समस्यामूलक गाँवों में १-१ कुआँ खोदकर पेयजल की समस्या को हल करने का संकल्प लिया गया है।

निवेदन

आश्रम ने इन राहत कार्यों में मन्दिर-निर्माण कोश की लगभग ३ लाख रुपये की राशि खर्च कर दी है। इससे मन्दिर-निर्माण कोश रिक्त हो गया है। हम ऋण लेकर मन्दिर-निर्माण का कार्य पूर्ण कर रहे हैं। अतएव आप सबसे अनुरोध है कि यथाशक्ति मन्दिर-निर्माण कोश में दान देकर हमारी सहायता करें।